RNI No. . DELBIL/2016/68976

ISSN : 2456-4699

Peer-reviewed refereed Research Journal

Copyright @ PGDAV College (Eve.)
All rights reserved. Reproduction in any form is prohibited.

Chief Editor : Prof. R.K. Gupta
Published and printed by Prof. R.K. Gupta for PGDAV College (Eve.), University of Delhi
from PGDAV College (Eve.), Nehru Nagar, New Delhi-110065 and printed at
Vandana Offset Printers, A-9, Sarai Pipal Thala Extension, Delhi-110 033

बोधायन बोधायन Volume 2, Issue 1 - 2017

ISSN : 2456-4699

bodhayan बोधायन

Volume 2, Issue 1 - 2017

Chief Editor
R.K. Gupta

Editor
B.N. Chaudhary

Editorial Board
Satyakam Sharma, Jagmohan Rai
Ashma Bhatia, Mridula Arora, Pramod Kumar Sethi
Anil Kumar Singh, Krishna Shukla, Vipin Pratap Singh

(दिल्ली विश्वविद्यालय)

An official Multi-lingual Interdisciplinary Journal
PGDAV College (Evening)
University of Delhi, Delhi

2017

ISSN : 2456-4699

bodhayan
बोधायन

Volume 2, Issue 1 - 2017

Chief Editor
R.K. Gupta

Editor
B.N. Chaudhary

Editorial Board
Satyakam Sharma, Jagmohan Rai
Ashma Bhatia, Mridula Arora, Pramod Kumar Sethi
Anil Kumar Singh, Krishna Shukla, Vipin Pratap Singh

An official Multi-lingual Interdisciplinary Journal
PGDAV College (Evening)
University of Delhi, Delhi

2017

अनुक्रमणिका

1. बदलते हुए भारत में हिन्दी साहित्य के सामने उठते नए प्रश्न 3
   – डॉ. रमेश ऋषिकल्प, पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य)
2. असंवाद का हिमबिन्दु और आज का नाटक 6
   – डॉ. आशा रानी, पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य)
3. Information Technology in Banking Sector : Challenges Ahead 11
   – Kavita Kamboj Chanda, College of Vocational Studies, Delhi University
4. नए विमर्शों का यथार्थ और रचनाधर्मिता का संकट 22
   – डॉ. हरीश अरोड़ा, पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य)
5. Socio-Economic profile of selected Unorganised Retailers 25
   – Neha Arora and Kiran Bala, Research Scholars, Deptt. of Commerce University of Delhi
6. हिमशिखा के नीचे की ज़मीन 28
   – डॉ. अनिल कुमार सिंह, पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य)
7. साहित्य का आम आदमी से रिश्ता 35
   – डॉ. जगमोहन राय, पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य)
8. हिन्दी साहित्य, हिन्दी पाठक और विडम्बनाओं का मकड़जाल 41
   – डॉ. मधु लोमेश, अदिति महाविद्यालय
9. बदलते हुए भारत में हिन्दी साहित्य के सामने उठते नए प्रश्न 46
   – डॉ. कमलेश कुमारी, शहीद भगत सिंह कॉलेज
10. हिन्दी का नया लेखन : मरती हुई रचनाधर्मिता का प्रश्न 52
   – डॉ. मंजु शर्मा, भारती कॉलेज
11. Impact of Global Financial Crisis on Indian Economy 55
   – Jai Shankar Sharma, PGDAV (Evening) College, Delhi University
12. विचारधारा और वादों में विभाजित : आज का हिन्दी साहित्य 63
   – डॉ. मंदाकिनी मीना, इन्द्रप्रस्थ महिला कॉलेज
13. विचारधारा और वादों में विभाजित : आज का हिन्दी साहित्य 65
   – डॉ. सुधांशु कुमार तिवारी, रामलाल आनन्द कॉलेज (सांध्य)

बदलते हुए भारत में हिन्दी साहित्य के सामने उठते नए प्रश्न : शंकाएं और समाधान

प्रो. रमेश ऋषिकल्प

गेंट विश्वविद्यालय, बेल्जियम

किसी भी देश और साहित्य के बीच में जो रिश्ता होता है वह अर्थवान तभी होता है जब हम उसमें से नए अर्थों को निकाल सकें और उन्हें समझ सकें। विकास की प्रक्रिया एक स्वाभाविक स्थिति है और हम उस स्थिति में कई आयाम खुलते हुए देखते हैं। भारत जब-जब विकास के सोपान तय करने की ओर आगे बढ़ा तब-तब उस विकास को दर्ज करने में हिन्दी साहित्य ने अपनी सबसे बड़ी भूमिका निभाई है। याद कीजिए भारतेन्दु युग को जब भारत परतन्त्रता के खिलाफ अपना संघर्ष शुरू कर रहा था और उस संघर्ष में अनेक आयाम खुल रहे थे तो भारतेन्दु और भारतेन्दु काल के सभी लेखकों ने उस बदलाव को अपने साहित्य में दर्ज किया और उस समय निकलने वाली सभी पत्रिकाओं में हमें उस समय के बदलते हुए भारत का नक्शा दिखाई देता है।

आज भी भारत बदल रहा है। आज का बदलाव पहले की अपेक्षा और भी बहुआयामी, बहुक्षेत्रीय और बहुत प्रकार के प्रश्नों को पैदा करने वाला है। आज के भारत का चेहरा विश्व स्तर पर एक नया रूप ले रहा है और इस बदलाव को आज पूरी दुनिया महसूस कर रही है। भारत जब सभी आयामों में बदल रहा है तो आज का हिन्दी साहित्य भी उस बदलाव को दर्ज करने की प्रक्रिया में से गुजर रहा है। ध्यान देने की बात ये है कि आज के बदलते हुए भारत की मूल चेतना और उसकी संवेदना बहुआयामी तो है ही लेकिन सूक्ष्म भी बहुत है। देश के नीचे अनेकानेक परतें धीरे-धीरे बदल रही हैं। उसकी चेतना के स्तरों में बदलाव आ रहा है उसकी जीवन शैली बदल रही है उसके सोचने के स्तर बदल रहे हैं और ये बदलाव इतना सूक्ष्म है कि भाषा और साहित्य के लिए चुनौती बन गया है।

वैसे भी समय और समाज हमेशा से भाषा के लिए चुनौती रहे हैं कई बार तो ये होता है कि इस बदलाव को ग्रहण करने के लिए भाषा अपने आपको असमर्थ महसूस करती है। भाषा और बदलाव की ये द्वंद्वात्मक प्रक्रिया है। हिन्दी साहित्य ने बदलते हुए भारत की धड़कन को अपने अन्दर समेटने की कोशिश की है। सबसे बड़ी पहल हिन्दी कविता में हमें देखने को मिलती है। ये बदलाव आज़ादी के बाद से शुरू हो गया और छायावाद के बाद की नई कविता ने इस बदलाव के तमाम आयामों को अपने अन्दर समेटा है। विजय देव नारायण साही ने लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस में उन तमाम प्रश्नों को उभारा है जिनमें बदलते हुए भारत में बनते हुए मनुष्य के नए चेहरे उभर कर के आ रहे हैं। नई कविता में सर्वेश्वर, अज्ञेय, मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, नरेश मेहता, धूमिल, श्रीकांत वर्मा इन तमाम लोगों ने बदलते हुए भारत के इस स्पैन को बखूबी अपने अन्दर अभिव्यक्ति प्रदान की है। इसी प्रकार बदलते हुए भारत और बदलते हुए भारत के नए समाज की संवेदना को मोहन राकेश, कमलेश्वर, मन्नू भण्डारी, राजेन्द्र यादव, रमेश बक्षी जैसे कहानीकारों ने भी अभिव्यक्त किया है।

सन् 70 के बाद का भारत फिर से एक नई करवट लेता है और पश्चिम से आने वाली टेक्नोलॉजी भारत को अपने ढंग से बदलना शुरू करती है। वो ठहराव जो सन् 1947 के बाद भारतीय समाज महसूस कर रहा था अब धीरे धीरे दरकने लगता है। विज्ञान के क्षेत्र में सम्बन्धों के क्षेत्र में, चिकित्सा के क्षेत्र में और सबसे बड़ी बात ये है कि स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के क्षेत्र में ये बदलाव हमें दिखाई देने लगता है। जाति प्रथा के खिलाफ एक मुहिम हमें भारत में खड़ी हुई दिखाई देती है अब जातियों की दीवारें टूटने लगती हैं और टूटती हुई दीवारों में से अब हमें नया सृजन दिखाई देने लगता है। अब सम्बन्धों की आधारभूमि न जाति है, न वर्ण है बल्कि स्थितियाँ हैं और इन स्थितियों का निर्माण मनुष्य अपने ढंग से करना चाहता है।

सन् 80 और 90 के बाद भारत फिर बदलता है। अब ये बदलाव उस पीढ़ी के अन्दर हमें दिखाई देता है जो सन् 70 के बाद धीरे धीरे विकसित हो रही थी। अब स्कूल कॉलेज घर बाहर सभी स्थानों पर लिंग भेद का पर्दा खत्म होने लगता है और अब एक सामूहिक समाज हमें उगता हुआ दिखाई देने लगता है और सबसे बड़ा बदलाव हमें दिखाई देता है व्यवस्था के खिलाफ, आम आदमी का एक विद्रोह। लोकतांत्रिक मूल्यों की लड़ाई इस बदलते हुए भारत में इस ढंग से ष्ठुरू होती है कि वह समाज की सभी सम्बन्धों को अपने अंदर समेट लेते हैं। लेकिन ये भी ध्यान रखना पड़ेगा कि इस बदलते हुए भारत में सभी कुछ गुडी गुडी और अच्छा अच्छा ही नहीं था बल्कि राजनीति की पूरी की पूरी पकड़ ऐसे लोगों के हाथ में जाने लगी जो क्रिमिनल थे। जिसका नतीजा ये हुआ कि राजनीति में जमके भ्रष्टाचार दिखाई देता है, अपराधीकरण दिखाई देता है और इस अपराधीकरण की अनुगूंज हमें भारतीय समाज में होने वाले अपराधों में दिखाई देती है। चोर बाजारी, भ्रष्टाचार अब हमें सब जगह दिखाई देने लगते हैं। ये भ्रष्टाचार श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास राग दरबारी से भी दस कदम आगे था और इसको अभिव्यक्ति प्रदान की उदय प्रकाश की कहानियों ने और उदय प्रकाश के उपन्यासों ने। उदय प्रकाश ने समाज की उस छद्म को चीरने की कोशिश की जो हमें सामाजिक जीवन में हर जगह दिखाई देता है। उदय प्रकाश के अलावा संजीव, महुआ मांझी की कहानियों में भी हमें ये सब दिखाई देता है। अब सवाल ये पैदा होता है कि तकनीक के स्तर पर जो बदला हुआ भारत है वह अब किसी भी प्रकार के रोमांटिसिज्म को स्वीकार नहीं करता बल्कि एक इस प्रकार के रेतीलेपन को हमारे सामने प्रस्तुत करता है जिसे हम पढ़ना नहीं चाहते।

भारतीय पाठक एक खास प्रकार के साहित्य को पढ़ने का अभ्यस्त है। उसकी कल्पनाशीलता अमृतलाल नागर और प्रेमचन्द के उपन्यासों से बनी है। सन 60 में उसने खुद अपने जीवन को मोहन राकेश, धर्मवीर भारती और कमलेश्वर की कहानियों में पाया लेकिन आज के कहानीकार से और आज के साहित्यकार से वह अपना वैसा रिश्ता नहीं बना पा रहा है। बदलते हुए भारत का साहित्य हमारे सामने एक रिपोर्टिंग पैदा कर रहा है लेकिन साहित्य का जो बुनियादी चरित्र है उससे वह कहीं स्खलित होता दिखाई दे रहा है।

यही कारण है कि अब पाठक अपनी कल्पनाओं को साहित्य में न देखकर चैनल्स के सीरियल्स में देखने की कोशिश करता है और नए सीरियल बदलते हुए भारत के इस बदलते हुए पाठक के सपनों को जी भर के कैश करने की कोशिश कर रहा है। दिक्कत ये है कि पाठक के लिए साहित्यकार साहित्य का वो रसायन पैदा नहीं कर पा रह है जो उसके मन और संवेदना को सम्भावनाओं के रास्ते खोले। ज्ञान के रास्ते तो खोल रहा है लेकिन कल्पनाओं के अधिकांश रास्ते साहित्य बन्द करता चला जा रहा है। एल्बर्ट आईन्सटाईन ने अपनी किताब 'द आईडिया एन ओपिनियन्स' में एक स्थान पर लिखा है कि ज्ञान की तो

सीमा हो सकती है लेकिन कल्पना की कोई सीमा नहीं है। इस असीमित कल्पना के ही सहारे बदलते हुए भारत का पाठक अपने लिए एक ऐसा साहित्य तलाश करना चाहता है जो उसके अन्दर कुण्ठा पैदा न करे जो उसके हीनभावना पैदा न करे, हताशा और निराशा पैदा न करे उसको तोड़े नहीं बल्कि उसे सम्भावनाओं के रास्ते दिखाए, जीवन की पगडंडिया खोले और एक जिजीविषा पैदा करे।

मुझे ये कहने में कोई संकोच नहीं है कि आज हिन्दी साहित्य और बदलते हुए भारत के बीच में वह रिश्ता नहीं बन पा रहा है जो रिश्ता बनना चाहिए था। साहित्य और समाज के बीच रिश्ता तोड़ने का और कुण्ठा का नहीं हो सकता। ये रिश्ता सुख, तृप्ति, सम्भावना और जिजीविषा का हो सकता है। जिन दिनों भारत के क्रांतिकारी अंग्रेजों के खिलाफ क्रांति कर रहे थे उस समय का साहित्यकार एक ऐसा साहित्य दे रहा था जिसमें जीवन था, कल्पनायें थी और ये कल्पनायें रचनात्मक थीं – हवाई नहीं थीं। कल्पनायें कभी हवाई नहीं होती बल्कि वे रचनात्मक भी होती हैं। क्योंकि उनकी जड़ें जीवन के यथार्थ में ही होती हैं। जो लोग कल्पना को हवाई और असत्य मानते हैं उन्हें पी.बी. शैली की कल्पना के बारे में दी गई अवधारणाओं को पढ़ना चाहिए। शैली ने कल्पना को सृजनशीलता के लिए एक बहुत बड़ी शक्ति माना है। सच तो ये है कि बिना कल्पना के हम कला और साहित्य की कल्पना भी नहीं कर सकते। इसलिए यथार्थ के नाम पर बनता हुआ हिन्दी साहित्य एक रिपोर्टिंग पैदा कर रहा है जो फैक्चुअल तो है लेकिन जीवन्त नहीं है।

इसलिए बदलते हुए भारत और हिन्दी साहित्य के बीच में कई प्रकार की शंकाएं जन्म ले रही हैं और ये शंकाएं बुनियादी तौर पर साहित्य को पठनीय बनाने की हैं। अगर साहित्य आम आदमी की संवेदना से नहीं जुड़ेगा तो अपने साहित्यपन को ही खत्म कर देगा। संक्षिप्त में मैं कहना चाहूंगा कि हिन्दी साहित्य के सामने सबसे बड़ा प्रश्न बदलते हुए भारत में यह है कि वह नई कल्पनाओं के आकाश खोले, जिनमें नई जीवन शैली हो, नई सम्भावनायें हों और पाठक उस साहित्य से शक्ति प्राप्त करे और दिशा प्राप्त करे।

❑❑❑

असंवाद का हिमबिन्दु और आज का नाटक

डॉ. आशा रानी
पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य)
(दिल्ली विश्वविद्यालय)

हिन्दी नाट्य साहित्य के इतिहास में स्वातंत्र्योत्तर युग सर्वाधिक चर्चित, प्रसिद्ध उल्लेखनीय एवं विवादास्पद भी है। इसका मूल कारण यह है कि इस कालावधि में ही सही अर्थों में हिन्दी नाटक नवीनता, अति आधुनिकता, प्रयोगधर्मिता, रंग-सापेक्षता और पश्चिमोन्मुखता जैसी कई नवीनतम प्रवृत्तियों की ओर तेजी से अग्रसर हुआ है। जिस तेजी से हमारा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिवेश बदला है उसमें साहित्यकार का रचना संसार, उसका चिंतन बोध, सर्जनात्मकता और दायित्व निर्वाह की दिशा आदि सभी कुछ तेजी से परिवर्तित हुआ है और हो रहा है। आज साहित्यकार समाज को बदलने, राजनीति को नया रूप देने आर्थिक दृष्टि से समृद्धि लाने का प्रयास करता है किन्तु समसामयिक परिवेश में जब उसने अपने को कुछ करने में असमर्थ पाया तो परस्पर विरोधी और जटिल स्थिति उत्पन्न हो गई और परिणामस्वरूप आज लेखकीय अभिव्यक्ति घुटन, कुंठा, संत्रास, विडम्बना, अन्तर्विरोध आदि से जुड़ गई है। जीवन को नया मोड़ देने के उत्साह में लेखक के सामने असंगतियां और उलझने ही अधिक आई हैं। अतः साहित्यकार का जीवन आज अनेक चुनौतियों से भरा हुआ है। वह युग बोध को साहित्यिक संवेदना के स्तर पर अपने ढंग से अभिव्यक्त करता है।

समकालीन हिन्दी नाटककार समसामयिक परिवेश और युगबोध की अभिव्यक्ति के लिए उत्कंठित और पर्याप्त सक्रिय है। परिस्थिति के त्वरित परिवर्तन से समकालीन हिन्दी नाटककारों ने इतिहास और पुराण के आदर्शों को नाटक का कथ्य ही नहीं बनाया अपितुः एक सजग रचनाकार के रूप में सामान्य जन की पीड़ा, हताशा, निम्नवर्गीय और मध्यवर्गीय लोगों के शोषण, निराशा, व्यवस्था एवम् सत्ता का विरोध और संघर्षपूर्ण विरोधात्मक चेतना को कथ्य के रूप में प्रस्तुत किया है।

भूख, श्रम, पूंजी और यौन ही मुख्य रूप से आज विश्व भर की प्रमुख और सार्वभौमिक समस्या हो गई है। लगभग प्रत्येक देश के साहित्यकार हर युग में इससे लगातार जूझते रहे हैं। इन सार्वभौमिक समस्याओं के अतिरिक्त भी प्रत्येक देश की अपनी कुछ विशिष्ट समस्याएं होती हैं। पिछले कुछ दशकों का सामाजिक परिवेश अपने आप में अनेक समस्याओं से उलझा हुआ है। समाज की सबसे छोटी इकाई व्यक्ति जितना बाह्य परिवेश से टूटता नज़र आता है उतना ही उसका आंतरिक परिवेश भी उसे तोड़ रहा है। इसलिए वह समाज के सामने घुटने टेकने को मज़बूर हो गया है। आंतरिक रूप से उसने अपनी आत्मा को लगभग खंडित ही कर दिया है। परिणामस्वरूप उसमें बुरी तरह से टूटन आई है; संत्रास, विसंगतियों और विद्रूपताओं के दर्शन उसके व्यक्तित्व में होने लगे हैं। वर्तमान आर्थिक परिवेश में वह और भी रोने-चीखने की स्थिति में आ गयी है। बढ़ती हुई महंगाई में उसे अपना भविष्य भयंकर

नज़र आ रहा है। बदली हुई अवधारणाओं ने मानव जीवन को बहुत जटिल बना दिया है।

सबसे बड़ा बदलाव नारी की तत्कालीन स्थिति में हुआ है। अब वह घर से बाहर निकलकर अपनी ज़िन्दगी जीने के लिए भी स्वतंत्र हो गयी है। फलतः स्त्री-पुरुष के बीच का यह शारीरिक और मानसिक सम्बन्ध जो स्थूल और सूक्ष्म प्रेम एवं समर्पण पर आधारित था – रिश्ते का वह नाज़ुक तन्तु आधुनिकता के एक ही झोंके से टूट गया जिसके मूल में स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की मूल्यहीनता एवं नारी स्वातन्त्र्य जैसे विचार और पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कृति का आरोपित प्रभाव था। बदलते मूल्यों और परिस्थितियों की दौड़ में नर-नारी की परस्पर सम्बन्धहीनता, अनासक्ति, पर-पुरुष – पर स्त्री-प्रेम और उपभोग तथा उससे उपजे तनाव – विषाद एवं काम-कुण्ठा को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में दिखाने का प्रयास है। असंवाद की इन स्थितियों से बनते बिगड़ते सम्बन्धों की पड़ताल निम्न नाटकों के विश्लेषण में देख सकते हैं। इसके अतिरिक्त इनमें सम्बन्धों की रिक्तता और कड़वाहट को वर्तमान समाज के बदलाव के संदर्भ में परखा जा सकता है।

सुरेन्द्र वर्मा, रमेश बक्षी, सुशील कुमार सिंह, मणि मधुकर ऐसे नाटककार हैं जिन्होंने स्त्री-पुरुष के दैहिक और मनोवैज्ञानिक चित्रण में अत्यधिक रुचि ली है। कुसुम कुमार, विष्णु प्रभाकर, नन्दकिशोर आचार्य, प्रभाकर श्रोत्रिय, मृणाल पाण्डे, सारंग भृगु, रामेश्वर प्रेम, शंकर शेष, भीष्म साहनी, नाग बोडस, त्रिपुरारी शर्मा ने अपने नाटकों में नारी चेतना को विशेष दृष्टि प्रदान की है।

पारिवारिक जीवन की विडम्बनाओं, नयी पीढ़ी की क्रांतियों, आधुनिक युवा-युवतियों की मनोवृत्तियों को आधार बनाकर लिखने वालों में रमेश बक्षी का एक विशिष्ट स्थान है। उनका **'देवयानी का कहना है'** नाटक एक परम्परावादी नारी के विपरीत अत्याधुनिक नारी का बिम्ब उभारता है और इस नयी चेतना ने विवाह संस्था की सार्थकता पर प्रश्न चिह्न लगा दिया है। भौतिकतावादी मानसिकता का घेरा हमारे चहुं ओर इस तरह से जकड़ा हुआ है कि हम उससे पार नहीं पा पाते। क्योंकि औरों से लड़ना बेहद आसान है .... अपनों से, अपने आपसे लड़ना बेहद मुश्किल है, जीतना तो और भी मुश्किल है। लक्ष्मीनारायण लाल कृत **'मिस्टर अभिमन्यु'** आधुनिक व्यक्ति की भीतरी और बाहरी उसी संघर्ष पीड़ा को व्यक्त करता है जो उसकी स्थिति है।

लाल जी का **'कर्फ्यू'** नाटक दंगों की पृष्ठभूमि में सामाजिक एवं नैतिक बंधनों में फंसे मनुष्य के भावात्मक द्वन्द्व को संकेतित करता है जिसमें प्रश्न उठाया है कि व्यक्ति आज़ादी के नाम पर क्यों अपने आप कर्फ्यू लगाए रखने के लिए विवश है, वह अपने लिए स्वतंत्र जीवन मूल्य क्यों तलाश नहीं कर पाता? जबकि समय सबसे बड़ा सत्य है। वस्तुतः नाटक परम्परागत सामाजिक मूल्यों के विरुद्ध युगबोध का प्रतिफलन है जो यह सिद्ध करना चाहता है कि आरोपित प्रतिबन्ध व्यक्ति के व्यक्तित्व को कुंठित और खंडित कर देते हैं। नाटक 'स्व' के बाधारहित विस्तार के लिए प्रचलित मान्य आदर्शों की प्रतिक्रिया की उन्मुक्त भोगवादी बाधा की प्रस्तावना है।

लक्ष्मीकांत वर्मा का नाटक **'रोशनी एक नदी है'** हमारे ठहराव और गतिरोध की यथास्थिति को नये रंगों में प्रस्तुत करता है। यह सामयिक संवेदना की दृष्टि में नई श्रेणी का नाटक है। आज हम सिर्फ भीड़ बनकर रह गए हैं और भीड़ में कुचले जा रहे हैं। आज कोई ज्योतिवाहक नहीं है। पति-पत्नी सम्बन्ध भी केवल दिखाने के समान हैं क्योंकि जीवन में निराशा के अतिरिक्त कुछ और बचा नहीं है।

आधुनिक युवक किस प्रकार अपनी संस्कृति को हेय, त्याज्य और गली हुई रस्सी मानता है। युवकों की इस दिशाहीनता, निरंकुशता और स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का उद्‌घाटन दयाप्रकाश सिन्हा के **'ओह अमेरिका'** नाटक में भलीभांति मिलता है।

आज पूर्व पीढ़ी और उत्तर पीढ़ी का आपसी सेतु कैसे ध्वस्त हो गया, उसमें असंवाद का हिमबिन्दु कहां से उपस्थित हो गया है? अजनबी द्वीपों में बहिष्कृत होने पर उनके पीछे नौकाओं को किसने भस्म कर डाला है? इन सबका चित्रण विष्णु प्रभाकर के नाटक 'टूटते परिवेश' में देखा जा सकता है। वर्जनाशीलता, उपदेश, नीति, धर्म, शिष्टाचार, मर्यादा सभी पर प्रश्न चिह्न लगाती हुई सन्तान जब स्वच्छन्द यौनाचार, दिशाहीन फैशन एवं अराजक उच्छृंखलता पर उतर आती है तब पिता कैसे महसूस करता है .... यही सब 'टूटते परिवेश' नाटक में है।

आज की सामाजिक व्यवस्था का नियामक आम आदमी का शोषण ही नहीं करता वरन् वह संसार की प्रत्येक वस्तु पर भी अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझता है। आम आदमी की सम्पत्ति पर ही नहीं, उसकी स्त्री पर भी उसकी गिद्ध दृष्टि है। किसी व्यक्ति की वस्तु को हड़प कर वह उसे दण्डित भी कर सकता है। सत्ता और व्यवस्था की यह दुमुंही नीति **'सिंहासन खाली है', 'बकरी', 'अब्दुल्ला दीवाना', 'तेन्दुआ'** आदि नाटकों में स्पष्ट दिखाई देती है। राजनेताओं द्वारा अपनाए गए हथकण्डों, राजनीतिक कुचक्रों, थोथे नारों और झूठे आश्वासनों का पर्दाफाश इन नाटकों में सफलता से हुआ है।

मोहन राकेश अपने नाटक 'पैर तले की जमीन' में विवाहपूर्व आधुनिकाओं के सम्भावित सम्बन्धों के लिए पूर्ण पुरुष और पूर्ण नारी की तलाश के साथ घर की तलाश लिए है और आज अधिकांश व्यक्ति घर की इसी तलाश में भटक रहे हैं

हमीदुल्ला का 'दरिंदे' नाटक सांस्कृतिक मूल्यों के विघटन पर सवाल उठाता है। राजसत्ता ने जो सरकारीकरण किया है उसने उत्पन्न विकलांगता को जन्म दिया है। सरकार आर्थिक विकास, हरित क्रांति की बात करती है किन्तु सब कुछ सरकारी आंकड़ों में हो रहा है, दफ्तर फाइलों के जंगल मात्र हो गए हैं, कुर्सियों पर उल्लू, गिरगिट, चमगादड़, शुतुरमुर्ग और गधे बैठे हैं। मानव ने यंत्रों के माध्यम से अपने को यांत्रिक बना डाला है। और संवेदनशून्य हो गया है। नाटककार अमानवीकरण की त्रासदी को उद्‌घाटित करता है।

'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' नाटक में सुरेन्द्र वर्मा ने यह बताने का प्रयास किया है कि राजनीति और नौकरशाही आज के व्यक्ति के निजी सम्बन्धों तक किस हद तक घुस गई है और आधुनिक समाज में व्याप्त असंगत धारणाओं पर कुठाराघात किया है। इसी दौर में स्वतंत्र लेखकीय अभिव्यक्ति को आधार बना कर 'आठवां सर्ग' नाटक को सुरेन्द्र वर्मा ने लिखा जिसमें शासन, सत्ता और राजाश्रय की महत्त्वपूर्ण समस्याओं के बीच लेखकीय अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य और शासन की टकराहट स्पष्ट दिखाई देती है। शासन के समक्ष कालिदास की एक साहित्यकार की पराजय पर या एक रचनाकार की 'रचनात्मकता' की छाया पर पहले नाटक समाप्त हुआ परन्तु बाद में उन्होंने कालिदास की साहित्यिक रचना की उत्कृष्टता को दिखाते हुए उसकी इतनी व्यापक जनस्वीकृति दिखाई कि कालिदास की रचना अपने रचनामूल्यों में अत्यन्त विराट सिद्ध हुई। बदलते हुए भारतीय परिवेश में रचनाकारों को इस समस्या से अक्सर जूझना पड़ता है जिसका उल्लेख नाटककार ने बखूबी

किया है।

यूं तो स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का चित्रण बदलते हुए इस परिप्रेक्ष्य में साहित्यकारों का आधार रहा है किन्तु जब लेखिकाओं ने इन सम्बन्धों पर अलग-अलग पक्षों का, स्तरों का चित्रण किया तो नारी दृष्टि की निजी विशेषताएं भी सामने आई। मृदुला गर्ग का 'एक और अजनबी' स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्तरों को लेकर चलता है और उसमें अभिव्यक्तिगत ताज़गी और अनुभव अलग ही रंग लिए है। उच्चतर जीवन की लालसा एवं अर्थ के मोह ने पति-पत्नी के सम्बन्धों को एक नया मोड़ दिया है। दाम्पत्य जीवन के संदर्भ में मूल्यच्युत पुरुष का अपनी पत्नी के लिए अजनबी एवं पराया हो जाने की दु:खद अनुभूति को प्राथमिकता के साथ चित्रित करता है। दो पुरुषों के बीच विभाजित स्त्री की त्रासदी को पेश करता है।

आर्थिक वैषम्य ही आधुनिक मध्यवर्गीय चेतना की प्रकृति निर्मित करता है। उच्चवर्ग में सम्मिलित होने की तीव्राकांक्षा एवं नारी की घर-गृहस्थी के कार्यों के प्रति बढ़ती जा रही उदासीनता ने मध्यवर्गीय परिवारों को अर्थव्यवस्था के एक जटिल संघर्षपूर्ण मोड़ पर ला खड़ा किया है। निरन्तर बढ़ती जा रही महंगाई नौकरी-पेशा व्यक्तियों के लिए द्रौपदी का चीर हो गयी है। समाज में नैतिक और आर्थिक भ्रष्टाचार को दिनोंदिन प्रोत्साहन मिला है। यह प्रवृत्ति निजी व्यवसाय करने वालों में ही नहीं बढ़ी बल्कि सरकारी कर्मचारी भी समाज की इस घातक प्रवृत्ति से इच्छित लाभ उठाने की लगातार कोशिश में रहते हैं। अर्थ की अक्षमता ने मध्यवर्गीय नारी से पता नहीं कितने अपमानजनक और घृणित कार्य करवाये हैं। अर्थाभाव की तप्त भट्टी, निम्न मध्यवर्गीय, मध्यवर्गीय युवतियों के अहं को राख का ढेर कर देती है। प्रेम किसी से और विवाह किसी से में वह कोई पाप नहीं देखता, पुरुषार्थ के बदले नपुंसकत्व का परिचय मिला है। आत्मसम्मान आज अर्थ के सामने लंगड़ा हो गया है।

नारी शिक्षा में समाज में स्त्रियों की कम होती जनसंख्या दर जिसका मुख्य कारण पुत्र व पुत्री की विभेदक रेखा है, में अंतर किया जा सकता है। भ्रूण हत्या और कन्याओं के लिंग परिवर्तन की समस्या व नारी की उपेक्षित स्थिति की विडम्बना ने प्रभाकर श्रोत्रिय को 'इला' जैसा नाटक लिखने के लिए विवश किया। पूरे तंत्र की विभीषिकाओं को व्यंजित करने में नाटक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। इसमें निहित युगीन समस्याओं और प्रश्नों का चिह्नित करते स्थल पाठक को क्षण भर रुककर सोचने को बाध्य कर देते हैं – यही इस नाटक की सफलता भी है।

रामेश्वर प्रेम का नाटक 'शस्त्र संतान' महाभारत की युद्ध व्यथा न होकर एक ऐसी रचना है जिसमें उठाए गए प्रश्न और गढ़े गये संवाद मानवीय जीवन के गहराते संकट का उत्तर बन गये हैं। सामाजिक, राजनीतिक विसंगतियों तथा मानव जीवन की विविध द्वन्द्वात्मक मन:स्थितियों को दूधनाथ सिंह ने 'यमगाथा' में उजागर करने का सार्थक प्रयास किया है।

नवें दशक के ऐसे नाटकों की रचना भी बहुत हुई जिसमें युवा पीढ़ी में दिशाहीनता, मानसिक विघटन, चारित्रिक पतन और कुंठित आचरण परिलक्षित होता है जिसके लिए उन्हें मिलने वाले संस्कार, भौतिक सुखों की कल्पना, अर्थ संग्रह की प्रबल इच्छा ने मध्यवर्गीय दम्पत्तियों के जीवन में जो स्वार्थपरता, आत्मकेन्द्रिता और अलगाव की स्थितियां उत्पन्न की उनका असर उनकी होने वाली संतानों पर पड़ा है।

मोहन राकेश ने मध्यवर्गीय जीवन को अपनी रचनाओं के लिए चुना और उसमें उनकी दृष्टि नारी पुरुष सम्बन्धों की व्याख्या में है। वह अपने समकालीनों के बीच नयी पहचान बनाते हैं। नाटकों में अपेक्षित स्थितियों के अभाव तथा अनपेक्षित स्थितियों की उपस्थिति के टकराव एवं उस संघर्ष में जूझते हुए व्यक्ति के खण्ड-खण्ड होते व्यक्तित्व को अनेक स्तरों पर अभिव्यक्ति मिली है। यह बदलते परिवेश का ही प्रभाव है कि युगों से पति के साथ जीवन पर्यन्त निर्वाह करने वाली स्त्री इस काल में यह दृष्टिकोण रखने लगी कि **'क्या पर-पुरुष पति नहीं बन सकता और पति पर-पुरुष नहीं बन सकता।'** बौद्धिक चेतना ने उसके जीवन में उथल-पुथल मचा कर रख दी है। संघर्ष और चुनौती की यह मुद्रा जिसमें नारी की विद्रोहाभिव्यक्ति की विशेषताएं कथा का आधार बनी हैं। इन नाटकों में नारी की आकांक्षाओं और उमंगों को एक नयी दिशा मिली। समसामयिक परिवेश में कदाचित् सबसे पहले नारी में विचारों और मानसिक सोच की उन्मुक्तता में अचानक भारी बदलाव आया है।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण व्यवस्था में जिस आमूल रूप से परिवर्तित हुआ उसने हमारे सम्बन्धों को बहुत प्रभावित किया है। बदलती आस्थाओं के साथ संवेदना में भी परिवर्तन साकार हुआ है। आज हम जिसको उद्देश्य बनाकर चलते हैं वह आने वाले कल में आरम्भ का बिन्दु बनकर रह जाता है। अत: नयी-नयी उपलब्धियों के प्रसंग में संवेदना में भी परिवर्तन की गति में तेजी आ रही है।

❑❑❑

INFORMATION TECHNOLOGY IN BANKING SECTOR: CHALLENGES AHEAD

Kavita Kamboj Chanda
Asstt. Professor, Department of Commerce
College ofVocational Studioes, Delhi University

Thirteen years into the 20th Century and market has moved more rapidly in the last five years than the preceding 30. Technology as the differentiator has become the driver of the Indian banking business since the past decade with the financial sector reforms providing firm foundation. The role of technology in the "information age" is well recognised by banks, businesses, industries, governments and as such has completely woven in to their organisational structure and strategic planning process. Organisations in the financial sector especially banks strive to achieve creation goals for the benefit of their owners or clients. These goals may be expressed in terms of objectives which include among others,

- increasing revenue,
- improving services rendered,
- expanding the customer base,
- minimising cost of operations

Banks today are looked upon as vehicle of change for a much needed economic growth and development as it behoves on banks to develop the most effective means of delivering effective, efficient and quality service that will help drive our awaited economic success. These can be made possible if and only if information technology is properly put to use in the banking sector Information technology has been acknowledged as the life wire of banks in the financial sector as it promotes and facilitates the performance of banks in the country. These therefore call for a pre-requisite need to embrace information technology. It is in view of thisof banks in the financial sector as it promotes and facilitates the performance of banks in the country. These therefore call for a pre-requisite need to embrace information technology. It is in view of this research work attempts to examine the impact of information technology on the performance of banks in India today.

OBJECTIVES

The general purpose of this study is to examine how the adoption of information technology affects the operation of commercial banks in NigeriaIndian. The study specifically aims to ; Determinedetermine the significant impact of information technology on the profitability of Nigerian Indian banks. (Its effect in the reduction of cost and benefit in increasing the income profit of the bank) Examine how information technology has enhanced the growth of NigerianIndian banks. Determine the effect of information technology on the liquidity of NigerianIndian banks.

HYPOTHESIS OF THE STUDY

The study is carried out with the following hypotheses:

I. Introduction of Internet Technology inTechnology in banking sector transformed the regulated environmentenvironment into a market-oriented one and induced competitiveness in banking industry.
II. Information. Information technology brought a paradigm shift in the banking industryIndustry and enhanced the overall performance of the banks.

III. Information technology in banking business has a visible impact on the quality of customer service.
IV. The performance of public sector banks is not as good as' private sector banks in spite of their age, size and image.
V. The introduction of prudential norms improved the financial health and credibility of banks.

REVIEW OF LITERATURE

To-day, we cannot think about the success of a banking system without informationInformation tTechnology and Ccommunication. It has enlarged the role of banking sector in the economy. The financial transactions and payment can now be processed quickly and easily. The banks with the latest technology and techniques are more successful in the competitive financial market. They have been able to generate more and more business

resulting in their greater profitability.

Various empirical and theoretical studies have been undertaken at the national and international level to analyze the impact of e-banking and information and communication technology (ICT) on banking sector, customers, service quality and payment system.

Dannenberg and Kellner (1998), in their study, overviewed the opportunities for effective utilization of the Internet with regard to the banking industry. The authors evaluated that appropriate application of today's cutting edge technology could ensure the success of banks in the competitive market. They evaluated the services of banks via iInternet as websites provide sophisticated line of products and services at low price. The authors analyzed that transactions via internet reduce the risk of data loss to customers, chance to cut down expenses, higher flexibility for bank employees, re-shaping the 43 banks' image into an innovative and technologically leading institutes, etc. The researchers found that banks could move one step further by entering into a strategic alliance with internet service provider. So, the bank of tomorrow stands to be feasible with today's technology.

Daniel (1999), in his research paper, described e-banking as the newest delivery channel offered by the retail banks in many developing countries. The objective of the study was to analyze the current provision of electronic services of major retail banking organizations in the UK. The researcher through a questionnaire found that 25% banks in the UK were those already providing e-banking services, 50% banks were testing or developing such services while 25% were not providing any e-banking services.

Electronic channels, PC, digital TV and all these provide greater accessibility and services at lower price. To make services more adaptable, customers should be provided maximum choice and convenience. Restriction and limitation within organization to operate the services and its market share or strength were viewed as important to decide and operate the e-banking services.

Unninthan (2001) described the impact of e-banking adaptation on Australian and Indian banking sectors with the help of qualitative and quantitative analysis. The researcher found that Australia had a strong platform for e-banking growth with 37.7 per cent of population willing to engage in e-banking mostly in urban areas due to literate young working population with discretionary income. However, India by comparison was played by weak infrastructure, low PC penetration and consumer reluctance in rural sector. But the professionals are compelling the government and bureaucracy in the country to support and develop new initiatives at a faster speed of internet banking.

However, in both the countries, e-banking was a successful strategic weapon for banks to remain profitable in a volatile and competitive market place.

Durkin and Howcroft (2003) evaluated that the banker-customer relationship was improved through mobile, phone and internet banking. The authors found that new technology has made the banks very competitive and profitable and internet has played a key role in it. Perception of bankers and customers regarding the use of internet was examined. They pointed out that as consumer usage of remote bank delivery channels increases, relationship management will become more important. Further, the combination

of traditional and new delivery channels, if followed, can help to improve their productivity and profitability.

Manoharan (2007) highlighted the e-payment system in India and its performance impact on Indian banking sector. The author described that competition in banking industry had forced the banks to rethink the way they operate their business. So, E-banking has made it possible to find alternate banking practices. In the paper, the author divided the payment system in India into three parts, i.e., large value payment system, retail payment system, and retail electronic system. Each one includes different categories of e-payment. The author studied the performance of various Indian payment 50 systems in the last three years in which RTGS emerged as the principal payment system in India for wholesale payment. The study focused that having a huge opportunity of e-payment system in India still 90 per cent of transactions were cash based. So, an effort should be made to increase the use of e-payment, and RBI should make efforts to strengthen the legal framework of electronic banking system.

kautish (2008) described the paradigm shift of banking sector from traditional banking to online banking. The objective of the paper was to discuss the derivation of value added tool of online banking system which was used to attract new customers and retain the existing ones. It helped the banks to acquire more business from existing customers. People preferred to use online banking because of its availability, better performance, ubiquity, speed and its effectiveness. Further, the author discussed two bank models integrated banking model where the banks provide internet banking services as an extension to their basic services like ATM and phone banking. So, it is a kind of hybrid approach and the other was stand alone internet banking model, where the banks totally rely on the online channel.

A majority of studies highlight the fact that "security" is the biggest single concern for customers when faced with the decision to use internet banking. Security has always been an issue, but its scope has changed from mere doubts about the privacy of personal information to worries of financial loss (**Sayar and Wolfe, 2007**). **White and Nteli (2004)** find that "security" is the most important attribute for UK internet banking customers. It is followed by "responsiveness of service delivery (speed and timeliness)", "ease of use", "credibility of the bank", and "product variety". **Akinci et al. (2004)** find that the selection of an internet banking service provider is effected by security, reliability and privacy. Security, which involves protecting users from the risk of fraud and financial loss, has been another important issue in safe use of the internet when conducting financial transactions in Saudi Arabia **(Sohail and Shaikh, 2007).**

METHODOLOGY

This study is an exploratory in nature; various published sources, books and websites have been the tool for data collection.

EVOLUTION OF TECHNOLOGY ADOPTION IN INDIAN BANKING

1. Adoption of advanced ledger posting machines in principal branches as these systems were designed to take care of the accounts related functions of bank for accuracy and control.
2. Setting of 'Single Window Scheme' which aimed to be focussed on customers through branch automation.
3. Emergence of Network Based Operations which were aimed at providing interbank connectivity.
4. Deployment of ATM's and the adoption of Core Banking Solutions which radically transformed the way banking was done in India.
5. Three most important technology infrastructures were created:

· INFINIT in 1999
· Implementation of PKI based electronic data transfer
· Structured Financial Messaging System(SFMS)

6. Innovations in newer delivery channel:

· Internet banking
· Mobile banking

· Pre-Paid cards

MAJOR BENEFITS FOR BANKS

1. Centralisation of customer information
2. Centralised transaction process
3. Centralised accounting process
4. Basic MIS reporting
5. Real time information availability

FACTS AND FINDINGS

· Intermediation cost of the Scheduled Commercial Banks has come down significantly from 2.59% in 1991-92 to 1.71% in 2010-11.
· The businesses per employee as well as the business per branch have increased several fold.
· Paper based instruments has been steadily declining, 59% in volume of transactions and 10% in value terms.
· Electronification of payment system has become the hall mark of the decade.
· Facility for interbank funds settlement through RTGS is today available across more than 88000 branches of banks spanning more than 5000 centres of the country, a coverage that has been perhaps not witnessed anywhere else in the world.

CHALLENGES AHEAD

1. FINANCIAL INCLUSION:

· Extension of coverage of banking sector to the remotest part of our country and to the most vulnerable sections.
· The best way offered for inclusive banking would be from twin routes- mobile banking through bank led model and banking correspondent.

2. MOBILE BANKING:

Today there are 700 million mobile connections for achieving financial inclusion, it may be worthwhile to piggy back on the mobile telephony platform. Just as ATM and Smart card technology permits a bank customer to authenticate one self and then conduct banking transactions in a secured fashion, it is perhaps worthwhile to consider whether ubiquitous mobile phone that is already in the hands of most Indians can be used for authentication and banking transactions in secured form.

3. ENHANCING THE SECURED NETWORK:

Security is the root of technology centric banking. Government is planning to implement on E-payment Gateway for a single point distribution of all payments that is a need for a secured network for transmission of such information becomes essential.

4. CAPABILITY OF HANDLING LARGE VOLUMES:

The question arises here that does our payment system have the ability to run millions of payments instructions daily? A single point distribution system is effective only with latest technology softwares and efficient human resource.

5. FRAUD MONITORING AND PREVENTION:

In this electronic age speed in detecting frauds has become extremely important. There must be some important measures on Information Security, Electronic Banking, Technology Risk Management and Cyber

Frauds.

TRENDS AND OPPORTUNITIES

Technology has enabled the banks to conceive deliver, manage and integrate their products in line with the customers' need. A range of services is now provided to both retail and corporate customers covering different financial products, sweep-in/sweep-out facilities, channel financing, straight through processing, etc. More technology spends are expected in the near future on areas such as implementation of data centre, expansion of CBS, Business Continuity Plan (BCP)/Disaster Recovery Plan (DRP) installations, IT Security, Electronic Data Interchanrge (EDI), Storage solutions such as Storage Area Network (SAN)/Network Access Storage (NAS) to take care of the hundreds of terabytes of electronic data being generated, cheque truncation solutions, compliance to regulatory standards like Basel II implementations, customer Relationship Management (CRM) solutions, data ware house and data mining tools, channel integration, global treasury, performance monitoring tools etc.

Expansion to rural areas

A major opportunity lies in the outreach to rural centeres which could bridge the urban-rural digital divide. As noted in the draft report of the Bank's Internal Group set-up to examine the issues relating to rural credit and micro-finance, opportunities abound in the sector with several possible options like smart card-based Kisan Credit Cards, smart card solutions for Self-Help Groups (SHG), bio-metric ATMs, information kiosks with local language and voice facility, call centreers, e-marketing of S SHG's products through the bank's payment gateways, etc.

1. Rapid advancement and gains to the banking sector

1.1 Overall, technological innovation has brought about the speedy processing and transmission of information, easy marketing of banking products, enhancement of customer access and awareness, wider networking and, regional and global links on an unprecedented scale. IT development has thus changed the product range, product development, service channels and type of banking services, as well as the packaging of such services, with significant efficiencies not only in the banks, but also the ancillary and feeder services to banks. The financial services industry has thus become virtually dependent on IT development. Most banks make visible efforts to keep up with new systems and processes.

2. The development in ICT has enabled banks to provide more diversified and convenient financial services, even without adding physical branches.

3. Status of IT adoption by banks: While the foreign banks operating in India made the beginning, the new private sector banks aggressively started pursuing technology-based service offering. However, the public sector banks had to move over from the load of the past legacy. The poor communication infrastructure and the hostile labour unions of the then era did not help the cause either. However, the rapid strides made by the technology sector and their swift adoption by the competitors since the middle of the past decade have forced the banks also to get into the act by beginning to offer IT-facilitated products and services. Today, almost every commercial bank branch is at some stage of technology adoption, be it Automated Ledger Posting Machines, Total Branch automation or Core Banking Solution (CBS). Keeping in view the large branch network of these banks, the Core

Banking solution(CBS) is being laid across by them in a phased manner. According to latest estimates, CBS covers around 40% of the bank branches accounting for nearly 70% of thebusiness volume. ATMs (including shared ATMs aided further by the National financial Switch initiative of RBI), internet banking, any branch banking, credit cards, debit cards, etc, are being increasingly offered. There are over 11,000 ATMs across the country and 11 million net connections with around 23 million users.

4. Trends and Opportunities: Technology has enabled the banks to conceive deliver, manage and integrate their products in line with the customers' need. A range of services is now provided to both retail and corporate customers covering different financial products, sw sweep-in/sweep-out facilities, channel financing, straight through processing, etc. to name a few. The multi-channel banking has acquired further dimensions to include third party payments, such as utility bills, through different channels including ATMs (the new ATM technologies come with nearly 150 types of offerings), mobile banking, etc. Further extension of RTGS in scope and width and the introduction of the cheque truncation systems should raise the customer expectation bar even higher. The day is not far off when the banks would be viewed more as technology companies offering banking products and services and services. While bank branches would continue to function, they would reorient themselves as relationship centers rather than routine banking service providers. More technology spends are expected in the near future on areas such as implementation of data centre, expansion of CBS, Business Continuity Plan (BCP)/Disaster Recovery Plan (DRP) installations, IT Security, Electronic Data Intercharge (EDI), Storage solutions such as Storage Area Network (SAN)/Network Access Storage (NAS) to take care of the hundreds of terabytes of electronic data being generated, cheque truncation solutions, compliance to regulatory standards like Basel II implementations, customer Relationship Management (CRM) solutions, data ware house and data mining tools, channel integration, global treasury, performance monitoring tools etc. Another area of great interest concerns the mergers and acquisitions of banks wherein banks with techno-synergy can combine to benefit from the same. A case in point is the recent acquisition of Global Trust Bank by the Oriental Bank of Commerce. It is pertinent to note that, on an average, IT constitutes about 20% of the total expenditure of the banks. A major opportunity lies in the outreach to rural centers which could bridge the urban-rural digital divide. As noted in the draft report of the Bank's Internal Group set-up to examine the issues relating to rural credit and micro-finance, opportunities abound in the sector with several possible options like smart card-based Kisan Credit Cards, smart card solutions for Self-Help Groups (SHG), bio-metric ATMs, information kiosks with local language and voice facility, call centers, e-marketing of S SHG's products through the bank's payment gateways, etc.
5. Challenges: While development in technology have thrown-up an array of opportunities for the banks, they have also brought along a whole set of challenges to deal with. One of the major challenges has been the requirement to integrate several islands of applications developed on varied platforms for catering to different services over a period of time. There is, realistically speaking, no single banking solution available to take care of the enterprise-wide requirements like SAP in the manufacturing sector. In the circumstances, the option seems to be to go for the best of breed solutions.

5.2. As the life cycle of the technological products is becoming shorter, banks have to consider the costs of huge investments made in the hardware and software vis-à-vis their expected benefits. Unfortunately, the response of the customers to the services offered through the new channels can be fickle. For example, as per a survey conducted sometime ago by C Fore for Outlook Money in the four metros and Bangalore, 63% of the respondents used ATMs while 80% went to branches. The utlisation of tele/net banking was just around 4%. The insufficient penetration may be attributable to lack of awareness, fear, need for personalized service, unrealistic expectations and, in some cases (like need for java enabled mobile hand sets), upgradation cost of equipments with the customer. All these point to the need for appropriate publicity and education exercise. Further, the new dispensations should be carefully planned to prevent channel cannibalization unless otherwise they benefit in the long run.

5.3. The technological upgradation necessitated by obsolescence in due course would call for fool-proof mechanism for migration to the new system to ensure complete data integrity.

Considering the need to maintain 42x7 real time capabilities, the switch-over to the new system should also be non-disruptive and totally transparent to the customers.

5.4. The risks arising out of outsourcing need to be suitably mitigated through proper selection proper selection

of vendors, comprehensive agreement, etc. Dependency on third party service providers for provision of certain services (say, for example, ATMs) does pose certain limitations on the range and level of services offered to the customers. An appropriate Service Level Agreement (SLA) with the vendors should cover the service needs of the banks.

5.5. Security is a major issue in a technology-based, networked en vironment. As per a study conducted by the Research International, 81% of the surveyed business units agreed that information/data I a key business asset and 86% perceived impact of crisis caused by failure of systems, etc. as drastic. An insecure system can expose a bank to serious operational.
regulatory and reputational risks.

While some frauds may require computer expertise, most losses are caused by simple methods like identity theft through social engineering. An analysis of computer-related frauds leads one to the conclusion that most computer criminals are employees of the same organization. Bugs in system or application software also cause insecure environment. While it may be difficult to altogether avoid the limitations caused by the system software, proper support agreement with the application vendor and through user acceptance testing should mit

5.6 Human Resources (HR) can be an important limiting factor in the IT-based delivery initiatives of any bank and, particularly so, of the Indian public sector banks. The average age profile of (he employees in these banks is back to around 48 years (as against about 30 years in new private sector banks) after the marginal initial dip consequent to the implementation of the VRS earlier. The process reengineering and change managem ment aspects require motivation and intensive training of the staff.

5.7 Apart from off-site reporting, the technological solutions should also take care of other regulatory requirements such as, Know Your Customer (KYC), Anti-Money Laundering (AML), etc. Banks would be increasingly required to maintain a profile of each and every customer and filter the transactions not matching the profile in a straight through transaction processing (STP) environment. Further, regulatory issues concerning e-banking and risk management need to be kept in view.

6. Role of IT Governance: From the above discussion, it would appear obvious that IT Governance in the Indian banking industry has to assume the importance it deserves to seize the emerging opportunities as well as to manage the challenges. The responsibility in this regard should range from setting the IT strategy to reviewing the performance of the IT function and organisation for suitable direction

7. Trends and Opportunities: Technology has enabled the banks to conceive deliver, manage and integrate their products in line with the customers' need. A range of services is now provided to both retail and corporate customers covering different financial products, sw sweep-in/sweep-out facilities, channel financing, straight through processing, etc. to name a few. The multi-channel banking has acquired further dimensions to include third party payments, such as utility bills, through different channels including ATMs (the new ATM technologies come with nearly 150 types of offerings), mobile banking, etc. Further extension of RTGS in scope and width and the introduction of the cheque truncation systems should raise the customer expectation bar even higher. The day is not far off when the banks would be viewed more as technology companies offering banking products and services and services. While bank branches would continue to function, they would reorient themselves as relationship centers rather than routine banking service providers. More technology spends are expected in the near future on areas such as implementation of data centre, expansion of CBS, Business Continuity Plan (BCP)/Disaster Recovery Plan (DRP) installations, IT Security, Electronic Data Intercharge (EDI), Storage solutions such as Storage Area Network (SAN)/Network Access Storage (NAS) to take care of the hundreds of terabytes of electronic data being generated, cheque truncation solutions, compliance to regulatory standards like Basel II implementations, customer Relationship Management (CRM) solutions, data ware house and data mining tools, channel integration, global treasury, performance monitoring tools etc. Another area of great interest concerns the mergers and acquisitions of banks wherein banks with techno-synergy can

combine to benefit from the same. A case in point is the recent acquisition of Global Trust Bank by the Oriental Bank of Commerce. It is pertinent to note that, on an average, IT constitutes about 20% of the total expenditure of the banks. A major opportunity lies in the outreach to rural centers which could bridge the urban-rural digital divide. As noted in the draft report of the Bank's Internal Group set-up to examine the issues relating to rural credit and micro-finance, opportunities abound in the sector with several possible options like smart card-based Kisan Credit Cards, smart card solutions for Self-Help Groups (SHG), bio-metric ATMs, information kiosks with local language and voice facility, call centers, e-marketing of S SHG's products through the bank's payment gateways, etc.

Attitudinal and HR related Issues:

The resistance to computerization which was witnessed in the Banking sector has vanished many years ago, but resistance by customers to changed modes of operations has not yet been conquered. Today, electronic funds transfers are only slowly gaining ground and is looked upon with some hesitation; acceptance of electronic processing modes is yet to make great in roads even in the Government and the advantages of 'anywhere' and 'anytime' banking have not really percolated to the banking masses of the country.

One major handicap in this entire chain is the absence of (or inadequate) Business process Reengineering consequent upon computerisation. Thus most efforts have turned out to be mere mechanisation of functions with no great value addition to either the process owner or the user.

IT related skill sets are not readily available in the banking sector and certain sections of banks have to contend with challenges relating to the retention of such skilled manpower. Coupled with this is the fact that there has been addition of new types of businesses without either changes in work processes or adequate manpower resulting in a negative impact on service delivery offerings.

HR still continues to follow the traditional approaches in most of the banks and unless changes occur in the mindset of all concerned, significant internal improvements would be hard to come by.

Technology obsolescence and replacement:

While managing technology implementation is a major activity which has to be done with reasonable care, managing the rapid developments taking place in technology is a bigger challenge. The high rates of technological obsolescence and the consequent need for periodical upgradation

While the need to take care of hardware related technological obsolescence has not greatly impacted the progress achieved, there have been issues related software obsolescence which had to be tackled.

Some of the activities which had to be taken up included the need to migrate the application software systems from the then current versions of Operating Systems and Data base to the later versions which required time and efforts.

Replacement costs do have a role to play in the final decision taken by organisations. Costs arising our of technological obsolescence tend to follow patterns which may not have been foreseen by the user entities resulting in the need to re-draw not only the implementation plans but budgetary requirements as well.

It may not be feasible (or possible either) to ensure that all banks in the country migrate to the latest technology levels at all points of time. The Reserve Bank, therefore, reviews the impact of technological developments, the value benefits arising out of improvements compare with the costs involved in migration / acquisition of new systems etc., and provides solutions which are optimal fits for the banking system as a whole.

Managing Outsourcing

IT outsourcing is a growing phenomenon in developing economies. The challenges of outsourcing range from selection of ideal outsourcing partner to dynamic issues of knowledge transfer, security risks, legal

concerns, vendor dependency, etc. This concern has heightened in recent years and these issues may be dealt with in synchronization with general governance principles. As we look to external IT service providers for assisting us to innovate and optimize, we must assess how mature our outsourcing capability is to utilize the right engagement models and align ourselves with the appropriate providers.

Before initiating the process of outsourcing any service/application, it is necessary to examine whether the outsourced function meets the business needs and strategic objectives. Identification of the nature of the activities undertaken by the vendor and the inherent risks of the activity are also important. It is recommended that due diligence in selecting, contracting, supervising and monitoring of the vendor is adopted. Diligence in vendor selection also requires a reasonable inquiry into the ability and suitability of the vendor to meet the requirements for the proposed service. Well defined and enforceable Service Level Agreements (SLAs) with the vendor will establish the performance standard and service quality expected under the agreement. As part of meeting principles of governance, it may be ensured that there is a documented, accepted procedure which governs service expectations and obligations including change management.

Combating Cyber Crime

19. In a networked world, there are no real safe harbours—like a ship which can be attacked by pirates anywhere, a service delivery offering on the network is generally available to everyone else on the network; in some cases this may well be the gateway for entry to the bank's main systems as well. Cyber security is a collective concern that is comprehensive in scope—the Internet has no national boundaries. Whereas security is typically regulated at the government level, cyber security is national, international, public and private in character- all in the same context. Today, there are Government initiatives aimed at enhancing cyber security which is complemented by cyber risk management and security provided by private entities that manage and operate most ICT infrastructure. Such security cannot be adequately assured by market forces or regulation; rather, it requires a novel mix of solutions involving a range of stakeholders working both in their own domains and in concert. No single strategy, set of governance arrangements, or operational practices will be right for every country. Cyber security issues now top the list of risks to watch. While such importance is ascribed for cyber security in general, banks, as prime targets of financial fraud and crime, need to be extra vigilant as far as cyber security is concerned and this needs to be ingrained in each and every offering made available using IT.

20. To share some important findings:

India is seeing an increase in the number of cyber attacks, from 2,565 in 2008 to 8,266 in 2009 and 10,315 in 2010 (*source: CERT-In*). India is one of the top three countries in the world in terms of malicious activities[4]. India has been responsible for sending out 16 percent of all spam according to the results of IBM's "X-Force 2012 Mid-Year Trend and Risk Report'', ahead of the 15% level of the USA. Some of the cyber security threats (malware and virus) reported by *CERT-In* are DNS Changer malware, Zeus BOT, stuxnet and spyeye.

According to a report by Japanese security company Trend Micro, hackers are now increasingly targeting Indian financial institutions with the latest variants of malware like SpyEye and Zeus to siphon larger amounts of money from bank accounts. It has reported a whopping 187 per cent rise in phishing attacks being reported on various Indian brands in May this year over the previous month and points out that significantly, all phishing are targeted on the banking sector.[5].

Stay Secure

New technologies being adopted everyday are opening doors for new threats. To combat these, we need new weapons. In the first place we need to identify information that needs to be secure and protected at all times. Further we need to put in effective security for accessing, sharing and controlling important documents

across the extended and mobile enterprise on any device. You would appreciate that controlling sensitive or confidential documents is more difficult than controlling records in databases. Most organisations including banks focus the majority of their security resources on the network rather than their applications. Banks would need to prioritise their application security to avoid being 'sitting ducks' for impending attacks.

CONCLUSION

The day is not far off when the banks would be viewed more as technology companies offering banking products and services and services. While bank branches would continue to function, they would reorient themselves as relationship centresers rather than routine banking service providers. Another area of great interest concerns the mergers and acquisitions of banks wherein banks with techno-synergy can combine to benefit from the same. Thus as Information Technology has been spread so widen in banking sector, challenges are also expanding with every moment.

REFERENCES

There's a silver lining here. According to a report7, security in the banking vertical worldwide has shown its dedication to security.

1. http://shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/10603/3563/10/10_ chapter%202.pdf
2. Brynjolfsson E. and Hitt L.M. 2000. 'Beyond computation: information technology, organizational transformation and business performance'. Journal of Economic Perspectives, E. Turban, et al., 'Information Technology for Management: Transforming Organizations in the Digital Economy', 6th edition (John Wiley & Sons, 2008), ISBN 9780471787129.
3. Economides N. and Salop S. 1992. 'Competition and integration among complements, and network market structure'. The Journal of Industrial Economics, XL (1): 105-123.
4. Farrell J. and Saloner G. 1985. 'Standardization, compatibility and innovation'. RAND Journal of Economics, 16 (1): 70-83.
5. Kozak S. 2005. 'The role of information technology in the profit and cost efficiency improvements of the banking sector'. Journal of Academy of Business and Economics, February 2005.
6. Milne A. 2006. 'What is in it for us? Network effects and bank payment innovation'. Journal of Banking & Finance, 30 (6): 1613-1630.
7. Saloner G. and Shepard S. 1995. 'Adoption of technologies with network effects: an empirical examination of the adoption of automated teller machines'. RAND Journal of Economics, 26(3): 479-501.
8. Solow R. 1987. 'We'd better watch out'. New York Times Book Review, July 12.
9. Shu W. and Strassmann P.A. 2005. 'Does information technology provide banks with profit?. Information & Management, 42: 781-787.
10. Whitten J. L., Bentley L.D. and Dittman K.C. 2004. 'System Analysis and Design Methods,' edisi ke-6 Mc.Graw-Hillk, New York.
11. http://rbidocs.rbi.org.in/rdocs/Content/PDFs/80799.pdf
12. http://www.rbi.org.in/scripts/BS_SpeechesView.aspx?Id=760
13. Whitehat Security Website Statistics report 2011

BIBILOGRAPHY

1. COBIT 3rd Edition - An IT Governance framework by IT Governance Institute.
2. Board briefing on IT Governance, 2nd Edition, IT Governance Institute.
3. BanCon2004 - Compendium of papers.
4. Draft report of the Bank's Internal Group on issues relating to rural credit & microfinance. 5. How safe is your electronic data - A report conducted by Research International. http://shodhganga.inflibnet.ac.in/

bitstream/10603/3563/10/10_chapter%202.pdf https://docs.google.com/viewer?url= arraydev.com% 2 Fcommerce%2FJIBC%2F2010-08%2FDixit.pdf Journal of Internet Banking and Commerce Berger A. N. 2003.

'The economic effects of technological progress: evidence from the banking industry '. Journal of Money, Credit, Banking, 35 (2): 141-176.

Brynjolfsson E. and Hitt L.M. 2000. 'Beyond computation: information technology, organizational transformation and business performance'. Journal of Economic Perspectives, 14(4): 23-48.

E. Turban, et al., 'Information Technology for Management: Transforming Organizations in the Digital Economy', 6th edition (John Wiley & Sons, 2008), ISBN 9780471787129.

Economides N. and Salop S. 1992. 'Competition and integration among complements, and network market structure'. The Journal of Industrial Economics, XL (1): 105-123.

Farrell J. and Saloner G. 1985. 'Standardization, compatibility and innovation'. RAND Journal of Economics, 16 (1): 70-83.

Kozak S. 2005. 'The role of information technology in the profit and cost efficiency improvements of the banking sector'. Journal of Academy of Business and Economics, February 2005.

Milne A. 2006. 'What is in it for us? Network effects and bank payment innovation'. Journal of Banking & Finance, 30 (6): 1613-1630.

Saloner G. and Shepard S. 1995. 'Adoption of technologies with network effects: an empirical examination of the adoption of automated teller machines'. RAND Journal of Economics, 26(3): 479-501.

Solow R. 1987. 'We'd better watch out'. New York Times Book Review, July 12.

Shu W. and Strassmann P.A. 2005. 'Does information technology provide banks with profit?. I' Information & Management, 42: 781-787.

Whitten J. L., Bentley L.D. and Dittman K.C. 2004. 'System Analysis and Design Methods,' edisi ke-6 Mc.Graw-Hillk, New York.

http://rbidocs.rbi.org.in/rdocs/Content/PDFs/80799.pdf

http://www.rbi.org.in/scripts/BS_SpeechesView.aspx?Id=760

Keynote address delivered by Shri G Padmanabhan, Executive Director, Reserve Bank of India, at IDRBT on December 17, 2012 at the GM/CIOs Conference. Assistance provided by Smt K Nikhila in the preparation of this speech and comments on the draft from S/Shri S Ganeshkumar and A Madhavan gratefully acknowledged Lisa Morgan- "Making Change: The Future of Payments is ease of use" The paradox of Banking 2015 - IBM paper[4] source: Symantec Intelligence Quarterly: July - September, 2011

[5] http://newindianexpress.com/business/article551583.ece CIO Anniversary Issue- November 2012 Whitehat Security Website Statistics report 2011

http://rbidocs.rbi.org.in/rdocs/Content/PDFs/80799.pdf

http://www.rbi.org.in/scripts/BS_SpeechesView.aspx?Id=760

नए विमर्शों का यथार्थ और रचनाधर्मिता का संकट

डॉ. हरीश अरोड़ा
असिस्टेंट यक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य)
(दिल्ली विश्वविद्यालय)

चित्रा मुद्गल ने आज से लगभग दस वर्ष पहले लिखा था कि – "रचनात्मक साहित्य किसी समस्या का तत्काल निदान नहीं। किंतु आमजन की मानसिकता बन गए दुर्गुणों की गहरी जड़ों में वह लगातार मठा उड़ेलकर–आत्मविश्लेषण के लिए प्रेरित ही नहीं करता, उन अदृश्य कारणों की पड़ताल के लिए भी बाध्य करता है जो उनकी चेतना से उनका संपर्क नहीं होने देते।" **(आजकल, मई 2001, पृष्ठ 8)** शायद यही कारण है कि पिछले लगभग तीन-चार दशकों में हिन्दी के रचनात्मक साहित्य में अप्रत्याशित रूप से इतनी तेज़ी से परिवर्तन दिखाई देने लगा कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में नई विचारधाराओं और वादों की एक अलग दुनिया ही बस गयी। निश्चित रूप से हिन्दी साहित्य के इतिहास में इतनी सारी नई विचारधाराओं और विमर्शों की दुनिया इससे पहले कभी नहीं बसी, जितनी इन कुछेक वर्षों में।

यह मानव समाज की प्रवृत्ति है कि उसने अपने जीवन में सदैव एक-जैसा बने रहने की चेष्टा कभी नहीं की। वह समय के साथ-साथ अपनी जीवन-धारा को भी बदलने का इच्छुक रहा है। यह बदलाव उसकी सक्रिय सोच और गतिशील चेतना का परिचायक है और समाज अपने युग से अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध रहने के कारण ही इस चेतना की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य को आधार बनाता है। उसकी इसी इच्छा ने ही उसे नए विमर्शों की नई दुनिया का निर्माता बना दिया है।

लगभग 20-30 वर्षों से वैश्वीकरण की नई विचारणा ने हिन्दी साहित्य और उसकी समस्त रचनाधर्मिता को ग्लोकल (ग्लोबल नहीं) बना दिया। पश्चिम की अनेक नवीन अवधारणाओं को हिन्दी साहित्यकारों ने भारतीय दृष्टिकोण से देखने का प्रयास किया और 'ग्लोबल' और 'लोकल' की सम्मिश्रित आधारभूमि पर हिन्दी साहित्य 'ग्लोकल' बन गया। लेकिन बदलाव की इस जमीन पर साहित्य के चन्द तथाकथित बुद्धिजीवियों ने पश्चिम की पूंछ को पकड़कर अपने को महान साबित सिद्ध करने की होड़ में साहित्य को ग्लोबलीय अवधारणा के निकट रखने का प्रयास किया जिसके चलते वे भारतीय यथार्थ के मूल धरातल से कटते चले गए। दरअसल परिवेशगत यथार्थ के चिन्तन की प्रवृत्ति पर पश्चिमी अवधारणाओं के हावी होने के कारण इन साहित्यकारों और आलोचकों की रचनाधर्मिता से संवेदना और तरलता क्षीण होने लगे। लेकिन कहीं-न-कहीं पश्चिम के विचारकों की भूमि पर अनुवाद के बीज बोकर इन साहित्यकारों और आलोचकों ने हिन्दी साहित्य को अनेक नए विमर्शों की फसल उगाकर भी

दी है। ये विमर्श हिन्दी साहित्य के लिए अवदान हैं। दलित विमर्श और स्त्री विमर्श जैसे नए वादों के कारण साहित्य के लेखकों और पाठकों को एक नई जमीन मिली। इन नए विमर्शों का आगमन साहित्य के लिए महत्त्वपूर्ण रहा। लेकिन अब तक हाशिए पर पड़े हुए वर्ग-विशेष ने अपने विमर्शों की नई दुनिया बनाने का जब निश्चय किया तो दूसरे वर्गों की अस्मिताएं इससे टकराने लगीं, ये नए विमर्श उनकी सदियों से जमी हुई सत्ता के लिए चुनौती बनकर उभरे। साहित्य में मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद जैसे वर्षों से जमे हुए विचार-आन्दोलनों की जड़ें हिलने लगी। शोषित वर्ग के प्रति अपनी संवेदना को क्रांतिधर्मी चेतना के रूप में साहित्य में अभिव्यक्ति देने वाले मार्क्सवाद को अपनी ज़मीन खिसकती दिखाई देने लगी तो उसने इन नए विमर्शपरक आन्दोलनों पर गम्भीरता से विचार करना आरम्भ कर दिया।

लगभग 1990 के आस-पास नई सूचना प्रौद्योगिकी ने भारतीय समाज को संचार की नई तंत्र व्यवस्था के साथ सम्बद्ध कर दिया। नए-नए संचार माध्यमों के कारण विश्व को 'ग्लोबल विलेज़' की संज्ञा से अभिहित किया जाने लगा। लेकिन वैश्वीकरण की इस आँधी ने ही एक नई साम्राज्यवादी व्यवस्था को समाज में जन्म दिया जिसे माध्यम साम्राज्यवाद कहा जाने लगा। यहाँ इस प्रसंग में आलोचक **डॉ. रोहिणी अग्रवाल** के इस विचार पर दृष्टि डालना जरूरी है कि – "संवेदना और वैचारिकता यानी तरलता और तार्किकता जब घुल-मिल कर संश्लिष्ट हो जाते हैं और एक दूसरे की पूरकता और सह-अस्तित्व में अपने युग के सवालों से टकराते हैं तो सृजन की भूमिका बनती है।" **(हरिगंधा, अक्तूबर, 2008, पृष्ठ 60)** लेकिन इस माध्यम साम्राज्यवाद के कारण समाज में उपजे बाज़ारवाद ने उत्तरआधुनिक विमर्शों के सामने ही चुनौती प्रस्तुत कर दी। अब साहित्य का सम्बन्ध संवेदना और विचार के धरातल पर एक-दूसरे का सहभागी बन समाज के सामने उठते प्रश्नों के हल ढूंढने का नहीं रहा। अब बाज़ार की प्रतिस्पर्धा में जहाँ साहित्य भी एक वस्तु के रूप में बिकने को तत्पर होने लगा वहीं साहित्यिक समाज में अपनी पहचान और स्वयं को दूसरे से बेहतर साहित्यकार सिद्ध करने की होड़ में नया लेखक भी नए विमर्शों के साथ खिलवाड़ करने लगा।

बदलते हुए भारतीय परिदृश्य में यथार्थवादी साहित्य को वादो-विवादों के संजाल-तंत्र में फँसाकर नया लेखक इन विमर्शों में नए प्रयोग करने का साहस करने लगा। प्रयोगधर्मिता तो साहित्य का गुण है ही इसलिए साहित्य में इन विमर्शों के नए प्रयोगों से भला किसे परेशानी है लेकिन परेशानी का कारण यह है कि इन विमर्शपरक लेखकों में या तो ऐसे लेखक हैं जिन्हें इन शब्दों के गहन अर्थ की जानकारी ही नहीं है या फिर ऐसे लेखक जो ये मानते हैं कि इन विमर्शों पर लेखन का अधिकार केवल उनका ही है। ऐसे लेखकों की रचनाएं रचनाधर्मिता से परे रचनाशीलता का आग्रह स्वीकार कर लिखी गई हैं। इसलिए ये quantity में तो बहुत हैं लेकिन quality के स्तर पर इनकी उपयोगिता संदिग्ध है। ऐसी परिस्थितियों में नए विमर्शों के कुछ साहित्यकारों ने कहीं-न-कहीं साहित्य को ही हॉलोकास्टिक बना दिया है। खास तौर पर स्त्री-विमर्श जैसे महत्त्वपूर्ण आन्दोलन की सैद्धान्तिकी को अपनी सोच से गढ़कर उन्होंने इस गम्भीर विषय के साथ जो खिलवाड़ किया वह उसकी भावात्मकता के साथ बलात्कार से कम नहीं।

जहाँ स्त्री-मुक्ति का यह आन्दोलन वास्तव में मानसिक मुक्ति से होना चाहिए था वहाँ यह देह-मुक्ति की अभिकल्पना पर आधारित हो गया। अब यौन सम्बन्धों की खुली किताब के लिए

पोर्न-साहित्य(?) पढ़ने की आवश्यकता नहीं रही बल्कि देह मुक्ति की लालसा से भरे स्त्री-विमर्शपरक(?) साहित्य में यह दिखाई देने लगा। जहाँ स्त्री-विमर्श का मुख्य कार्य पितृसत्तात्मक व्यवस्था का पुनरीक्षण करते हुए सामाजिक जीवन-धारा से विमुख की गई स्त्री के सपनों को शब्द देने का होना चाहिए था वहीं यह स्त्री की देहयष्टि पर केन्द्रित होता चला गया। आश्चर्य है कि स्त्री की इस छवि को गढ़ने में पुरुष साहित्यकारों ने ही नहीं बल्कि स्त्री साहित्यकारों ने भी कम भूमिका नहीं निभाई। उसे भी साहित्यकारों की भीड़ में अपने लिए स्पेस तलाशने के लिए स्त्री की छवि को बोल्ड (देहयष्टि के रूप में) बनाने से परहेज नहीं। ऐसी ही स्थिति कुछ-कुछ दलित-विमर्श के साहित्य में भी है।

वास्तविकता यह है कि व्यक्तिवादी और भौतिकतावादी विचारधाराओं तथा भूमण्डलीकरण या वैश्वीकरण जैसे नए अवधारणामूलक शब्दों के साथ-साथ उत्तरआधुनिक विमर्श की इस नई दुनिया में 'साहित्य का समाजशास्त्र' अब 'बाज़ार का समाजशास्त्र' बन गया है। अब साहित्य सामाजिक विसंगतियों और विद्रूपताओं के कारण उपजी जटिलताओं से नहीं बल्कि पूँजीवादी सत्ता से शक्ति पाता है। साहित्य के सामने यह संकट केवल बाज़ार या पूँजीवादी-साम्राज्यवाद से नहीं है बल्कि इसे यह संकट उसके उन लेखकों और बुद्धिजीवियों से भी है जिनकी दृष्टि में ये नए वाद अन्य वादों से कहीं प्रभावशाली होने के कारण उन्हें साहित्य में अलगाते हैं। उन बुद्धिजीवियों का यह अलगाव-बोध सीमित दृष्टि का परिचायक है।

दरअसल सच यह है कि इन नए विमर्शों का पुराने से अलगाव नहीं है बल्कि साहित्य की पूर्ववर्ती विचारणाओं के विकास की प्रक्रिया में विद्यमान कुछ-एक सूत्रों को पश्चिमी अवधारणाओं के देखकर इसे नए नामों से सम्बोधित करने का भ्रम है। जैसे कुछ आलोचकों को आज भी कबीर के काव्य में जनवाद या मार्क्सवाद के विचार दिखाई पड़ते हैं। वास्तविकता यह है कि बाज़ार के कारण साहित्य की कुछ विधाओं ने अर्थजगत में अपनी पहचान जरूर बना ली है लेकिन ये उन विधाओं के लिए ओर भी अधिक खतरे का संकेत है। श्रीमती अर्चना वर्मा ने साहित्य अकादमी द्वारा आयोजित 'क्या कविता खतरे में है?' विषय पर आयोजित एक परिसंवाद में कहा कि 'कहानी बिकाऊ है इसलिए वो खतरे से बाहर लगती है, लेकिन इसी कारण वह मुझे खतरे में नज़र आती है।' यही कारण है कि अब साहित्य में घनत्व की सघनता दिखाई नहीं देती।

सच है कि बदलाव से किसी को परहेज़ नहीं है लेकिन बदलाव के पीछे की वास्तविकता और बदलाव की विध्वंसकारी परिणति को दृष्टिगत रखे बिना इसे स्वीकार कर लेना समाज और साहित्य दोनों के लिए ही घातक होगा। भारत के तेज़ी से बदलते परिदृश्य के कारण हिन्दी साहित्य में उत्तर-आधुनिकोत्तर विमर्शों की छाया मंडरा रही है। बाज़ारवाद अब समाज और साहित्य का ही नहीं बल्कि संसार का यथार्थ बन गया है। इस नए भूमण्डलीय यथार्थ के कारण हिन्दी साहित्य के सामने उठते नए प्रश्नों के उत्तर तलाशने के लिए जरूरत है कि विचारधाराओं और वादों के जंगल में नए विमर्शों के आलोक में समाज को पहचानें और साहित्य की रचनाधर्मिता को गरियाने वाले बाज़ार में संवेदना के लिए भी स्पेस बनाकर चलें। जरूरत है सघनता और तरलता को साहित्य में बचाए रखने की, तमाम पूर्वाग्रहों की छाया से साहित्य को मुक्त रखते हुए उसमें संवेदना और वैचारिकता की संश्लिष्टता की और विचारधाराओं और वादों के द्वंद्व से साहित्य को विकसित करने की।

❑❑❑

Socio-Economic profile of selected Unorganised Retailers

Neha Arora and Kiran Bala
Research Scholars, Department of Commerce, DSE

Retail means relating to the sale of goods directly to consumers. It is the sale of goods to end users, not for resale. Indian retail industry plays an important role for the Economic growth of our country. It is a sunrise industry. The retail sector is important in Indian economic perspective as it contributes around 15% of GDP and employs more or less 7% of the labour force. It is the largest private sector in India and employs a large amount of population after agriculture.

Indian retailing sector is divided into two sectors-organised and unorganised retailing. Organized retailing refers to trading activities undertaken by licensed retailers i.e. those who are registered for sales tax, income tax etc. These include the corporate-backed hypermarkets and retail chains and privately owned large retail businesses. It refers to businesses employing more than 10 persons. Unorganized retailing refers to the traditional formats of low-cost retailing such as the local kirana shops, mom n pop stores, convenience stores, and handcart and pavement vendors, owner-managed general stores. According to an estimate, the unorganized retail sector has 97% presence whereas the organized retail sector accounts for merely 3%. India's retail and logistics industry, organized and unorganized in combination, employs about 40 million Indians (3.3% of Indian population).

Indian retail sector is basically of unorganised nature. Unorganised retailing is the most prolific and visible form of retailing in India. Unorganised retailing is defined as an outlet run locally by the owner or a caretaker of a shop that lacks technical and accounting standardization. The supply chain and sourcing are also done locally to meet the local needs.

Unorganised retailers include small local kirana stores being located in convenient locations, offering local produce and merchandise and a personalized service. Retailing in unorganized sector is basically not a profit oriented vocation but a mere source of livelihood. The capital investment is very low and the infrastructure is undeveloped. It is estimated that less than 4% of Indian retailers have shops larger than 500 square feet.

Rationale of the study

Indian Retailing is fragmented and highly unorganized in nature because of a large number of unemployed and uneducated population take up this profession. Indian retail is highly dominated by unorganised retailers i.e. local kirana shops, mom n pop stores. Unorganised retailing has been one of the easiest ways to generate self-employment, as it requires limited investment in land, capital, expertise, skill and labour. The present paper gathers information about the socio-economic profile of unorganised retailers and their status in the society.

Objectives

- To study the socio-economic status of selected unorganised retailers and to find out their present status.
- To study the impact of organised retailing on the unorganised retailers.

Literature Review

Singh and Bansal (2011) discuss the impact of organised retail outlets on unorganised retailers. They discuss how the corner grocery store is slowing giving way to international formats of retailing. The presence of a wide assortment of goods and services in one store and increasing income of the consumers has been the driving factor of the sustenance of organised outlets. Through a survey on the spending pattern of the consumers of various income groups, an analysis of the monthly purchase basket of consumers that indicated the average monthly household spend on food and grocery related items varied across income segments.

Goswami and Bansal (2009) study whether Indian consumers are likely to move from traditional kirana stores to large organized retailers while shopping for groceries. The findings revealed that the costumer patronage to grocery stores was found to be positively related to location, helpful, trustworthy salespeople, home shopping, cleanliness, offers and quality and negatively related to travel convenience. Kiranas do well on location but poorly on cleanliness, offers, quality and helpful trustworthy salespeople. The converse is true for organized retailers.

Sivaraman (2011) aims to study the future of unorganized retailing in Kanyakumari district. With the opening up of the retail sector, unorganised retailers are facing stiff competition due to a change in customer attitude. The paper identified various impacts of organised retailing on unorganised retailers. The data collected was analysed and it was found out there was a perceived difference between organised retailers and unorganized retailers on the attributes of store image, product range, brand choices, price, store ambience, credit availability, shop proximity and complements. But there was no perceived difference on product freshness and customer care. It has reduced their sales, profit and employment considerably. The operational cost and consumer credit also increased due to the presence of organized retailers.

Research Methodology

A sample size of 50 unorganised retailers from North Delhi, East Delhi and NCR has been used in the present study. A questionnaire was prepared to know the social economic status of unorganised retailers. Age, annual income, education, origin, location, ownership, number of working employees, infrastructure and size of the store were the different factors used in the questionnaire to measure their social economic background. Some of the findings have been demonstrated by bar charts and pie charts-

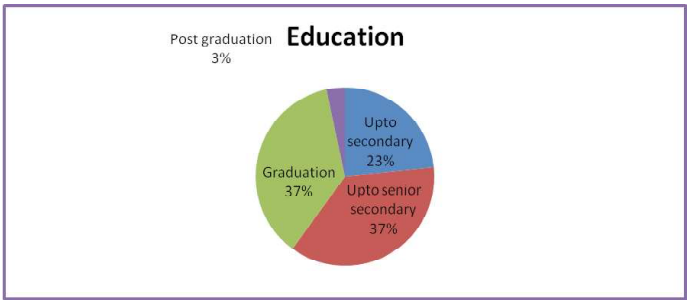

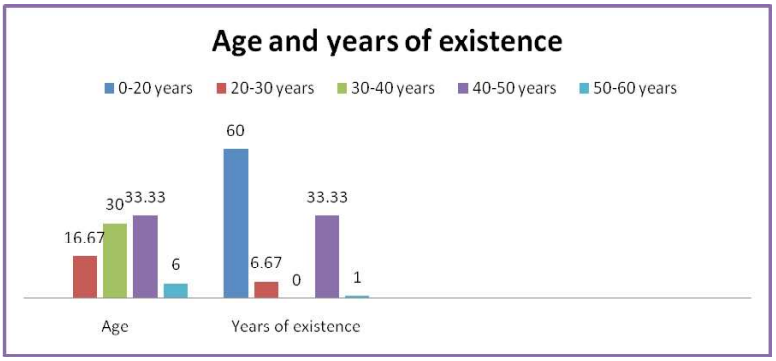

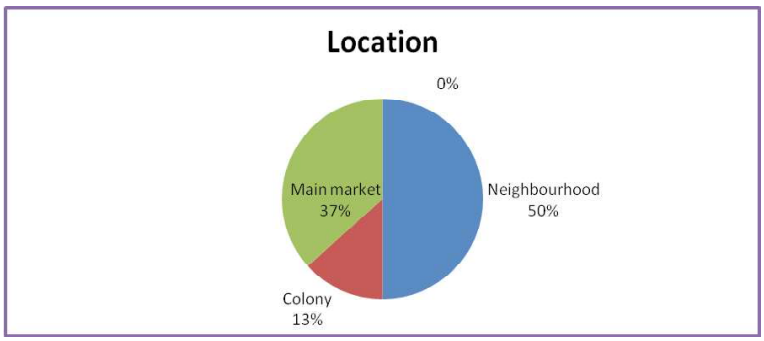

Some other relevant findings:

- The size of most of the retail shops was small and about 87% of the retailers own their shops.
- The inception of the shop was done either by the retailer himself or it was a family run business. Of the respondents surveyed, 44% was business acquired by father and 7% by grandfather and 44% were opened by the retailers themselves.
- About 43% of the retailers run the shop on their own, 30% of them have 1-2 workers and 20% of them have 3-4 workers and only 6% with more than four.
- 47% of the retailers surveyed have proper refrigeration, 50% of them have proper and maintained shelves and only 6% of them have billing machines.

Conclusion

- The size of most of the retail shops was small and about 87% of the retailers own their shops.
- The inception of the shop was done either by the retailer himself or it was a family run business. Of the respondents surveyed, 44% was business acquired by father and 7% by grandfather and 44% were opened by the retailers themselves.
- About 43% of the retailers run the shop on their own, 30% of them have 1-2 workers and 20% of them have 3-4 workers and only 6% with more than four.
- 47% of the retailers surveyed have proper refrigeration, 50% of them have proper and maintained shelves and only 6% of them have billing machines.

References:

1. Singh Amrinder and Bansal Gautam (2011), "Impact of organised retail outlets on unorganised retailers", International journal for Management research, Vol. 1 Issue 2.
2. Goswami Paromita and Mishra Mridul (2009) "Would Indian consumers move from kirana stores to organized retailers when shopping for groceries?", Asia Pacific Journal of Marketing and Logistics, Vol. 21 Issue: 1, pp.127 – 143Sivaravan P (2011) "The future of unorganised retailing in the Kanyakumari District", Asian Journal of Management Research, Vol. 2, Issue 1.Dhanapal and Thenmozhi (2010) "Service quality gap in Unorganised retailing", Global Management review, Vol. 4, Issue 4.

हिमशिला के नीचे की जमीन

डॉ. अनिल कुमार सिंह
सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य)
(दिल्ली विश्वविद्यालय)

वर्तमान समय में लेखक, साहित्य और पाठक का सम्बन्ध पहले की तुलना में बहुत बदल चुका है। पहले लेखक सीधे समाज को सम्बोधित करता था, क्योंकि साहत्यि मौखिक था और लेखक का श्रोता से संवाद सहज था। जब जब वह लिखित हुआ तो पाठक वर्ग अस्तित्व में आया। सामंती समाज के दौर में लेखक अपने लक्षित पाठकों के लिए लिखत था जिन्हें वह पूरी तरह जानता-पहचानता था। आज पूंजीवादी युग में लेखक सम्भावित पाठकों के लिए लिखता है जिन्हें वह ठीक से जानता भी नहीं है। आज लेखक और पाठक के बीच में बाजार उपस्थित है। जाहिर है बाजार में लेखकों की रचनाएं एक वस्तु की तरह हैं और बाज़ार में आते ही वे अपने कर्त्ता से स्वतंत्र हैं। यद्यपि साहित्य पर उसके लेखक की स्पष्ट छाप होती है, जो बाज़ार की दूसरी वस्तुओं पर नहीं होती। लेकिन यह छाप एक संकेत से अधिक महत्त्व की नहीं होती। ऐसे में, आज साहित्य का पाठक से वस्तुगत सम्बन्ध निर्मित हो गया है।

इसका एक दूसरा पक्ष भी है कि लेखक अपनी रचनाओं के माध्यम से पाठकों में विशेष चेतना पैदा करता है। उदाहरण के लिए हिन्दी उपन्यासाअें के विकास पर बात करते हुए अक्सर यह कहा जाता है कि देवकीनन्दन खत्री एवं किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने उपन्यासों से एक बहुत बड़ा पाठक वर्ग निर्मित किया था, जिसका भरपूर फायदा प्रेमचंद एवं आगे के उपन्यासकारों को मिला। बहरहाल, साहित्य पढ़ने के कारणों पर विचार किया जाए तो इस दृष्टि से पाठक भी अनेक प्रकार के होते हैं। शिक्षा संस्थानों से जुड़ा साहित्य का एक बड़ा समुदाय साहित्य पढ़ता है लेकिन चुनाव की स्वतंत्रता के अभाव में वह मजबूरी में साहित्य पढ़ता है। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि वह रचना से अधिक आलोचना और बाज़ारू कुंजियों को पढ़ता है। इस प्रक्रिया में साहित्य की दुर्गति स्वाभाविक है। कुछ लोग केवल मनोरंजन के लिए साहित्य पढ़ते और ऐसे में गम्भीर साहित्य का चयन वे नहीं करते। इस तरह के साहित्य का प्रचलन पूरी दुनिया में इस समय सबसे अधिक है। बल्कि इन्टरनेट के माध्यम से जो सस्ती और कोरे मनोरंजन की सामग्री परोसी जा रही है, उसका आकर्षण इन दिनों युवाओं में बढ़ा है।

कुछ लोग समाज में विशिष्ट बनने के लिए साहित्य पढ़ते और यह विशिष्टता कई बार छद्म आवरण का रूप लेकर उनके व्यक्तित्व को सबसे अलगाती है। आलोचकों को सर्वाधिक सुधी पाठक

माना जाता है किन्तु सूक्ष्मता से देखा जाए तो वे भी हमेशा सौन्दर्यबोध के लिए साहित्य नहीं पढ़ते हैं। बहुत थोड़े से लोग ऐसे हैं जो अपने भावों और विचारों को परिष्कृत करने के लिए साहित्य पढ़ते हैं।

मुद्रण कला के सौ-दो सौ वर्षों के इतिहास में यह पहला ऐसा दौर है कि पुस्तकों और पाठकों के रिश्ते को बेहद संदेह के घेरे में उलझा दिया गया है। हाल के दिनों में हिन्दी की अनेक पत्रिकाओं में इस चिन्ता को खास तौर पर उजागर करने का प्रयास किया गया। आखिर ऐसे कौन से कारण हैं कि लोग किताबों से दूर होते चले जा रहे है? कुछ लोग इसे सूचना-क्रांति के तीव्र प्रभाव से जोड़कर देखते हैं और उनका तर्क यह है कि रेडियो दूरदर्शन एवं सिनेमा के आकर्षण ने साहित्य को अपदस्त कर दिया है। इस सवाल को केरल की घटना से जोड़कर देखा जा सकता है जहाँ पिछले दिनों जब अखबार में यह खबर छपी कि केरल में साहित्य के पाठकों की संख्या तेजी से घट रही है तो वहाँ के साहित्य के प्रकाशनों की पूरी व्यवस्था पर संकट छा गया। यह वही राज्य है जहाँ दूसरे राज्यों की तुलना में साक्षरता सबसे अधिक है।

दरअसल केरल में योजनाबद्ध तरीके से साहित्य के प्रकाशन की सहकारी व्यवस्था के विकास के कारण गम्भीर साहित्य के पाठक समुदाय का विस्तार हुआ था। इस तरह वहाँ एक व्यापक साहित्यिक जागरण आया और कलात्मक साहित्य के लेखक एवं प्रकाशन का आन्दोलन चल पड़ा था। ऐसे में साहित्य के पाठकों की दिलचस्पी के कम होने के पीछे के कारणों की पड़ताल की गई तो यह कहा गया कि इसका एक कारण तो रेडियो-टेलीविजन का जनमानस पर रातदिन हो रहा आक्रमण है और दूसरा कारण सतही बाजारू पत्रिकाओं की बाढ़ है। फिर तो सचमुच ही कलात्मक साहित्य का अस्तित्व संकट में है।

जाहिर बात है कि हिन्दी में भी इस समस्या की गम्भीरता का अनुभव होने लगा है। हाल ही में आई.आई.सी. के सभागार में आयोजित एक संगोष्ठी में हिन्दी साहित्य के भविष्य और बाज़ार विषय पर बोलते हुए जाने-माने मीडियाकर्मी राहुल देव ने यह भविष्यवाणी की कि अगले 20-30 वर्षों में हिन्दी लुप्त हो जाएगी। हिन्दी के भविष्य और भविष्य की हिन्दी को लेकर यह उनकी बड़ी चिन्ता थी। यद्यपि उसी कार्यक्रम में डॉ. नित्यानन्द तिवारी का मानना था कि भाषा के स्वरूप में परिवर्तन का मुद्दा उतना बड़ा नहीं है बल्कि उनकी दृष्टि में इस परिवर्तन का सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों से टकराए बिना होना ज्यादा घातक है। उसी कार्यक्रम में बाज़ार के समर्थन और उसकी अपरिहार्यता पर बल देते हुए राहुल जी ने यह भी कहा कि मेरे वामपंथी मित्र बाज़ार का विरोध किस प्रकार कर रहे हैं? क्या वे खुद बाज़ार में नहीं हैं? और अगर नहीं हैं तो जीते कैसे हैं? सवाल यही है कि खुद बाज़ार में रहकर व्यक्ति बाज़ार का विरोध कैसे कर सकता है। आज अपने हाथ में लुकाठी लेकर बाज़ार में खड़ा होने वाला और अपने घर को आग लगाने वाला कबीर कोई नहीं है।

इसी प्रक्रिया में पिछले दिनों साहित्य अकादमी के 'कैम्पस में कविता' कार्यक्रम के अन्तर्गत हमारे कॉलेज में एक कार्यक्रम का आयोजन किया गया जिसमें इस दर्द को व्यक्त करते हुए मैनेजर पाण्डेय ने एक आलोचक की हैसियत से स्पष्ट किया कि 'पुस्तक तो पाठक तक नहीं पहुँच रही लेकिन कवियों ने श्रोताओं के पास पहुँचकर कुछ हद तक इस समस्या का निदान ढूंढने का जो

प्रयास किया है वह प्रशंसनीय है।' दरअसल मैनेजर पाण्डेय का संकेत उन शक्तियों की ओर था जो लेखक और पाठक के बीच खाई खोदने में लगी हैं। स्वभावत: इस स्थिति से गम्भीर साहित्य के लेखक और पाठक दोनों चिंतित हैं। लेकिन सिर्फ चिंतित और वस्तुत: यह आज के समाज में साहित्य के सामाजिक अस्तित्व का संकट है।

ध्यान से देखा जाए तो आम संस्कृति के विभिन्न रूपों के सरकारीकरण और व्यावसायीकरण का सुनियोजित अभियान चल रहा है। काग़ज की छपाई और डाक-व्यय में भारी वृद्धि के कारण लिखना, छपना तथा पाठकों तक पहुँचना मुश्किल होता जा रहा है। एक समय कलम की ताकत से डरने वाली शासन व्यवस्था आज साहित्य विरोधी अभियान में पूरी तरह संलिप्त है। इन समस्याओं का सामना हम न तो कलावादी कछुआ धर्म से कर सकते हैं और न ही रोमांटिक जोश के प्रदर्शन से। ये समस्याएं आज के ऐतिहासिक सामाजिक यथार्थ के विभिन्न पक्षों से साहित्य के असली सम्बन्धों को पहचान करके ही दूर की जा सकती हैं।

पिछले तीन-चार दशकों में हिन्दी साहित्य की दुनिया बहुत बदल गई है। हिन्दी साहित्य के पुराने केन्द्र उजड़कर वीरान हो गए हैं और दिल्ली साहित्य एवं संस्कृति की भी राजधानी बन गई है। गांवों, कस्बों और छोटे शहरों के साहित्यकार दिल्ली की ओर दौड़ रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे साहित्य की सारी सड़के दिल्ली की ओर मुड़ गई हैं। आखिर ऐसा क्यों हो रहा है? कारण बहुत आसान है। दिल्ली में प्रकाशक हैं, पत्रिकाएं हैं, अखबार हैं, साहित्य और हिन्दी अकादमी हैं, रेडियो-टेलीविजन के केन्द्र हैं। साथ ही सरकारी, अद्धसरकारी और गैर-सरकारी अनेक संस्थाएं हैं। इन सबसे सम्पर्क साधकर प्रकाशन, प्रचार, प्रशंसा, पद तथा पुरस्कार पाने के जितने अवसर दिल्ली में हैं उतने कहीं और नहीं। इस परिवेश का प्रभाव हिन्दी साहित्य की रचना और आलोचना दोनों पर पड़ रहा है। इन कर्मों पर भी दिल्ली के ज़हरीले और अधिक प्रतियोगी-प्रतिद्वंद्वी सम्बन्धों की छाया विद्यमान है।

यद्यपि साहित्य की रचना-प्रक्रिया में सामाजिक संदर्भ की भूमिका शुरू से ही रही है किन्तु वर्तमान समय में साहित्य पर सामाजिक संदर्भ और राजनीतिक-आर्थिक परिवेश का जितना व्यापक और निर्णायक प्रभाव पड़ रहा है उतना पहले कभी नहीं था। आज साहित्य में जिस अनुभव को संयोजित किया जाता है वह केवल सौन्दर्य और प्रेम की एकांत साधना के सहारे नहीं चलती है बल्कि वह समाज और अन्य संस्थाओं के जटिल सम्बन्ध से बहुत गहराई तक प्रभावित होती है। जब से साहित्य की दुनिया में लेखक और पाठक के बीच 'बाज़ार' महत्त्वपूर्ण हो गया है तब से पाठकों के बीच साहित्य की स्थिति बदल गई है। जो लेखक वर्तमान बाज़ार व्यवस्था में मीडिया और कुंजियों से जुड़े पुस्तक व्यापार में संलग्न है, वे जाने-अनजाने मजबूर पाठकों के बीच किसी तरह पहुँच रहे हैं हैं लेकिन कुछ आलोचक उन्हें इस पुस्तक मंडी में व्यापारी से अधिक कुछ और नहीं समझते। वर्तमान व्यवस्थाओं के विरोधी और असामाजिक एवं क्रूर नीतियों के प्रतिपक्ष में खड़े लेखकों से बच पाना अब बड़ा मुश्किल लगता है।

आशा की किरण आलोचकों में भी ढूंढी जाती है क्योंकि आलोचना का महत्त्वपूर्ण दायित्व शुरू से ही व्यापक पाठक समुदाय में गहरी दिलचस्पी पैदा करना और उसे स्थायी बनाए रखना रहा है। लेकिन जब आलोचक ही साहित्यिक रचना की ऐसी व्याख्या करने लगे कि वह रहस्यमयी बन

जाए तो स्थिति और भी दु:खद हो जाती है। ऐसी स्थिति में अगर साधारण पाठक उस रहस्यमयी साहित्यिकता से आतंकित होकर साहित्य से दूर भागने लगे तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। आजकल हिन्दी में ऐसी आलोचना खूब चल रही है। अनेक छोटी-बड़ी साहित्यिक पत्रिकाएं जाने-अनजाने इस कर्म में लिप्त हैं। हो सकता है कि आरोप-प्रत्यारोप से भी उनकी आलोचनाएं ऐसी दिशाओं में अग्रसर हैं। जब लोग साहित्य में संयोजित वस्तु और संघटना को किसी विशेष दृष्टि का परिणाम घोषित करते हैं तो कहीं-न-कहीं वे रचना को साजिश की उपज समझने लगते हैं। बिना जाने समझे किसी विचार को खारिज़ करना साहित्य के लिए बेहद खतरनाक है। यहीं दृष्टि और पद्धति का प्रश्न सामने आता है और दृष्टिहीनता के कारण आलोचना मनमाने की बात बन जाती है। इसमें पाठक से रचना को जोड़ना तो दूर रचना को रचना करार देना भी मुश्किल हो जाता है।

इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि साहित्य और पाठक के बीच लेखक भी किसी-न-किसी रूप में उपस्थित रहता है। आज साहित्य के विषाक्त वातावरण में पुस्तकों के चयन के क्रम में पाठकों की रुचि-अरुचि के बीच लेखक और उसकी विचारधारा महत्त्वपूर्ण मुद्दा बनकर उपस्थित हो जाता है। यह प्रश्न सिर्फ 'स्त्री-विमर्श' और 'दलित विमर्श' से ही नहीं जुड़ा है बल्कि ऐसा परिवेश इन विमर्शों के केन्द्र में आने से पहले ही निर्मित हो चुका था। नई कविता के चर्चित और बहुपठित रचनाकारों को एक विशिष्ट वर्ग शुरू से ही नकारता और धिक्कारता रहा। आज यह प्रवृत्ति पहले की अपेक्षा ज्यादा क्रूर एवं विरोधी होकर उभरी है। बहरहाल, लेखक को रचना और पाठक के बीच रखकर देखने का नज़रिया अब दूसरा रूप धारण कर चुका है। आज साहित्य को समझने के लिए शहर की दुनिया को जानना ज्यादा जरूरी है।

साहित्य और पाठक के सम्बन्ध का विवेचन निश्चय ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। पाठक के पास पहुँचकर ही कृति सार्थक होती है। पाठक के अभाव में साहित्य की स्थिति 'जंगल में मोर की नाच की तरह' होती है। लेखक शुरू से ही अपने पाठक की चिंता करता है। आज यह अभिलाषा और भी बड़ी हो गई है। ऐसे में पाठकों से निराश होकर वह भविष्य में पाठकों की तलाश भी करता है। आज बड़े से बड़ा साहित्यकार भी पाठक की चिन्ता से मुक्त नहीं है। 'सामयिक मीमांसा' के जनवरी-मार्च 2009 के अंक में प्रसिद्ध कवि राजेश जोशी का 'ओ मेरी कविता कहां है तेरे श्रोता' शीर्षक आलेख इसी ओर इशारा करता है। वे स्वयं ये मानते हैं कि 'हिन्दी कविता-पाठ का श्रोता समाज दिनों-दिन कम हो रहा है। बामुश्किल कुछ लोग आते भी हैं तो या तो वे स्वयं कवि होते हैं या दूसरी विधाओं से जुड़े रचनाकार। कुछ देर में ही पीछे की कुर्सियों पर बैठे श्रोता चुपके से बाहर निकल जाते हैं। अगर एक से अधिक कवियों का कविता पाठ हुआ तो अंतिम कवि के पाठ तक उपस्थिति नगण्य हो चुकी होती है।' वे और हम सब भी यह जानना चाहते हैं कि सिर्फ कविता पाठ के कौशल की कमी का प्रश्न है या कोई कमी हमारी कविता में भी मौजूद है? इस प्रश्न के उत्तर को दो संदर्भों के माध्यम से समझा जा सकता है। एक तो वर्तमान बदलाव का संदर्भ है और दूसरा साहित्य के बोधगम्यता अथवा दुरूहता का।

वर्तमान बदलाव के संदर्भ में साहित्य को रखकर देखने की पद्धति कुछ विशेष पहलुओं की व्याख्या से जुड़ी है। जनसंचार माध्समरें के तीव्र विस्तार का प्रभाव सिर्फ राजनीतिक-आर्थिक क्षेत्रों पर ही नहीं पड़ा है बल्कि साहित्य और समाज पर भी पड़ा है। आमतौर पर मीडिया के प्रभाव के

सवाल को हल्के रूप से ग्रहण कर लिया जाता है, किन्तु यह ज्यादा घातम रूप में उपस्थित है। मसलन टेलीविजन के प्रभाव को देखें तो आज सभी माता-पिता की दो चिन्ताएं हैं। एक तो यह कि उनका बच्चा अपना सारा समय टेलीविजन देखने में न गुजार दे और उसकी पढ़ाई पर बुंरा असर न पड़े। दूसरा, हिंसा और सेक्स से भरे कार्यक्रमों से वह अपने बच्चों को कैसे दूर रखें? ये वाजिब चिन्ताएं हैं, लेकिन टेलीविजन का ऐसा प्रभाव सिर्फ बच्चों पर ही पड़ रहा है या बड़े भी इसके प्रभाव क्षेत्र में हैं? असल में मीडिया के प्रभाव का सवाल उसके विशिष्ट स्वरूप से जुड़ा है और खुद मीडिया अपने नकारात्मक प्रभाव की समझ को भी प्रभावित करता है।

आज हम एक ऐसे युग में प्रवेश कर चुके हैं जहाँ मुद्रण, ध्वनि और दृश्यों तीनों का प्रयोग एक साथ किया जा रहा है। यह कम्प्यूटर और डिजिटल तकनीकों के विकास के कारण सम्भव हुआ है। यदि सिनेमा की शुरुआत को देखें तो उसकी विश्वव्यापी लोकप्रियता का बुनियादी कारण यही था कि पहली बार लोगों को ऐसा माध्यम मिला जो जीवन के बहुत करीब था। जिस प्रकार हम अपने जीवन में काम करते हैं, ठीक उसी तरह सिनेमा के पर्दे पर व्यक्ति की क्रियाओं को हमने देखा। यह एक अजूबा प्रयास था। यही नहीं कहानी, उपन्यास को पढ़ते हुए जिन घटनाओं और संघर्षों को हमने अपने मानस में कल्पित किया था, उसे ठीक वैसे ही फिल्म के पर्दे पर देखने लगे। यह नाटक के मंचन से भी ज्यादा प्रभावशाली था। क्योंकि नाटक एक सीमित स्थान पर ही अभिनीत हो सकता था। सिनेमा के पर्दे पर कैमरे के प्रभाव ने स्थान और समय की सारी संकल्पनाओं को बदल दिया। सिनेमा का यह प्रभाव टेलीविजन के जरिए बहुप्रसारित होकर और विस्तृत हुआ।

इस विकास की प्रक्रिया में दो तरह के लोग उभरे। एक तो वे लोग थे, जो सिनेमा को अपनी बात कहने का उपयुक्त माध्यम समझते थे और दूसरे जो सिनेमा टेलीविजन को व्यवसाय के रूप में समझते थे। दूसरे प्रकार के लोगों को यह बहुत जल्दी समझ में आ गया कि भारतीय लोगों की अभिरुचियाँ क्या हैं? लेकिन इसका दूसरा पहलू यह भी है कि क्या लोग ही हैं जो यह तय करते हैं कि उन्हें कौन-सी फिल्म देखनी है, टेलीविजन कार्यक्रम देखना है या किताब पढ़नी है। तब सिर्फ जनसंचार माध्यमों को दोष देना भी बेमानी हें एक अन्य पहलू यह भी इसी से जुड़ा है कि क्या लोगों की अभिरुचियाँ पहले से निर्धारित होती हैं या वह निरन्तर बनती हैं?

असल में ध्यान से देखें तो जिस कारण लोग फिल्म देखने जाते हैं, उसी कारण से अखबार नहीं खरीदते। इसी प्रकार अखबार पढ़ना और टी.वी. देखना एक जैसा नहीं है। यही कारण है कि जब रेडियो आया तो अखबार की उपयोगिता खत्म नहीं हुई और रेडिया के माध्यम से सुने गए समाचारों को विस्तार से टेलीविजन के माध्यम से जानने की उत्सुकता लोगों में बढ़ी। यह इस बात का भी प्रमाण है कि कोई भी माध्यम अपने में पूरा नहीं होता। अत: जब नया माध्यम आता है तो पुराने माध्यम से शुरू में संघर्ष चलता है किन्तु अन्तत: समायोजन की स्थिति स्थापित हो जाती है। लेकिन नए माध्यमों के आने से पुराने माध्यम अप्रभावित नहीं रहते। निश्चित रूप से इन नए माध्यमों ने किताबों के पढ़ने की आदत पर असर डाला है। दरअसल सभी के पास समय तो निश्चित ही होता है। रोज़ाना चौबीस घंटे, सप्ताह या महीने में से किताब पढ़ने के लिए जो समय हम निकालते हैं, इन नए माध्यमों के कारण घटा है। यदि हम उतना ही पढ़ते रहना चाहते हैं तो इन माध्यमों को अपने जीवन का हिस्सा बनने से रोकना होगा, जो हमारे लिए बदलते समय में करना मुश्किल हें यही नहीं

जो समय हम अपने समाज, अपने सम्बन्धियों और बहुत बार खेलकूद आदि में देते हैं, उनमें कटौती करना पड़ रहा है। यही बात साहित्य पढ़ने की क्रिया के बारे में भी सच है और यहाँ पर यह कहना आवश्यक प्रतीत हो रहा है कि जनसंचार माध्यमों की बढ़ती लोकप्रियता ने हमारे व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की संरचना को पूरी तरह प्रभावित किया है।

इन परिस्थितियों में साहित्य और पाठक के सम्बन्ध को समझने के लिए पाठक की अपेक्षा साहित्य को भी केन्द्र में रखकर समझा जा सकता है। साहित्य को चर्चा के केन्द्र में रखने के बाद इसके दो पक्ष स्पष्ट परिलक्षित किए जा सकते हैं। एक तो साहित्य की संवेदना के केन्द्र में कौन है? यदि आम आदमी इसके केन्द्र में है तो अनपढ़ और अशिक्षित होने के कारण वह इसका पाठक कतई नहीं है। यदि मध्यवर्ग साहित्य के केन्द्र में है तो मध्यवर्ग के अन्दर भी अब अनेक स्तर विकसित हो चुके हैं। इनमें से जहां उच्च मध्यवर्ग वर्तमान बदलाव की चकाचौंध में मध्यवर्गीय चेतना से विमुख हो गया है, वहीं निम्न मध्यवर्ग मंदी और अर्थव्यवस्था के उतार-चढ़ाव में निरंतर संघर्ष करता और उलझा साहित्य से कोसों दूर है। घोर पूंजीवादी उच्च वर्ग का साहित्य से कोई सीधा सरोकार नहीं है फिर तो साहित्य की संवेदना में संयोजित आम आदमी किसी पुस्तकालय के रैक में पड़ा धूल ही चाटेगा।

खैर, कई बार साहित्य में बोधगम्यता के सवाल को भी लोग चर्चा के केन्द्र में रखकर पाठक के कटते जाने की दुहाई देते हैं। वे अक्सर यह कहने लग जाते हैं कि आजकल की कविताएं, कहानियाँ और उपन्यास कुछ विचित्र ढंग की हैं, समझ में नहीं आतीं। सिर्फ सामान्य पाठक ही नहीं, बल्कि रचनाकार, आलोचक एवं अध्यापक भी कविता के संदर्भ में बोधगम्यता का प्रश्न उठाते हैं। लेकिन बोधगम्यता के इस सवाल को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने की जरूरत है। आरम्भ में छायावाद के संदर्भ में यह प्रचलित मज़ाक था कि जो समझ में न आए, अस्पष्ट हो, वह छायावाद है। पुराने अध्यापकों को छायावादी कविताएं पढ़ाना अब भी अटपटा लगता है। अतः आज हिन्दी कविता के प्रसंग में बोधगम्यता को छायावाद से शुरू हुआ माना जा सकता है। किन्तु उलटबांसियों, दृष्टकूट एवं मुकरियों के क्रम में देखा जाए तो बोधगम्यता का प्रश्न कलाओं के क्षेत्र में बराबर बना रहा है। आज आदिकाल एवं मध्यकाल पर इतना अध्ययन हो चुकने के बाद भी उनका एक बहुत बड़ा अंश ऐसा है जिन्हें हम बेहद दुरूह कहते हैं। ऐसे में वर्तमान समय में लिखे जा रहे साहित्य को एक झटके में अपठनीय बता कर पल्ला झाड़ लेना कहाँ तक उचित है?

हमारे यहाँ शुरू से ही पाठक और श्रोता को सहृदय, प्रमाता एवं रसज्ञ कहा जाता रहा है एवं उनमें साहित्य के संस्कार की बात होती रही है। रचना दुरूह है यह कोई नहीं कहता था। दो ही श्रेणियाँ थीं, रस का संस्कार है अथवा असंस्कारी। 'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे ..... सहृदयाः।' पर आज संस्कारशीलता पर जोर नहीं दिया जाता और सीधे-सीधे रचना को ही पाठ के स्तर पर ले आना बोधगम्यता मान लिया जाता है। इस प्रकार बोधगम्यता की बात को पाठक से हटाकर रचना पर ही आजकल आरोपित कर दी गई है।

ऐसा शायद इसलिए हुआ है कि लोग शिक्षा के व्यापक प्रसार को ही संस्कार रसज्ञ बनने का आधार मानने लगे हैं। लेकिन शिक्षा का वर्तमान रूप लोगों में कलात्मक अभिरुचियों का सम्यक

निर्माण एवं उनका परिष्कार करे, यह आवश्यक नहीं है। इसी से जुड़ा मुद्दा यह भी है कि आजकल जो पाठ्यक्रम हमारे यहाँ निर्धारित किए जाते हैं, उनमें विद्यार्थी और शिक्षक दोनों 'कंडीशंड' हो जाते हैं। इसके साथ ही साहित्य का 'कंडीशंड' मध्यकालीन बोध बहुत से शिक्षकों को आधुनिक होने से रोकता है। ऐसे व्यक्तियों की प्रतिक्रियाएं 'विशदीभूत' न होकर मनोविज्ञान की भाषा में 'कंडीशंड रेफलेक्सेज' की हो जाती है। इसे एक अन्य उदाहरण से भी समझा जा सकता है। पहले विकास की गति इतनी धीमी थी कि कोई भी काव्यांदोलन या प्रवृत्ति सैंकड़ों वर्षों तक चलती रहती थी और परिवत्रन की गति धीमी होने के कारण बदलाव को पाठक आसानी से समझ जाता था। अब स्थिति बदल चुकी है। विकास की तीव्र प्रक्रिया में परिवर्तन भी तेजी से घटित हो रहे हैं और कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति अधिक दिन तक नहीं चल पा रही है।

आजकल हिन्दी साहित्य की पृष्ठभूमि में अनेक युगों एवं देशों की साहित्य प्रवृत्तियाँ एक साथ मौजूद हैं। ऐसे में किसी एक ही परम्परा का अनुशीलन करने वाला पाठक-शिक्षक इन विविध प्रभावों एवं परिवत्रनों को दुरूह समझने लगता है। यह बात कहते हुए मुझे बेहद अफसोस होता है कि आज के हिन्दी के अध्यापकों को हिन्दी में लिखी जा रही रचनाओं से कोई विशेष लगाव नहीं है और अपनी अक्षमता के कारण ही नई रचनाओं को बुरा-भला कह रहे हैं। जो भी हो, मैं तो आज की रचना-प्रक्रिया एवं साहित्य के भविष्य के प्रति बेहद आशान्वित हूँ।

❑❑❑

साहित्य का आम आदमी से रिश्ता

जगमोहन राय
एसोसिएट प्रोफेसर, गणित विभाग
पी.जी.डी.ए.वी. कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय

साहित्य और समाज का रिश्ता महत्वपूर्ण भी है और जटिल भी। वे एक दूसरे को प्रतिबिंबित भी करते हैं और प्रभावित भी। कहते हैं कि साहित्य समाज का आईना होता है। यह किसी भी समाज के विकास का, किसी भी सभ्यता के विकास का एक महत्वपूर्ण अंग होता है। सभी साहित्यिक कृतियाँ, जिस युग और जिस समाज में वे रची गई होती हैं, उस समाज की, उस देश की, उस युग की राजनीति, अर्थव्यवस्था और संस्कृति से प्रभावित होती हैं। किसी भी काल का साहित्य अपने समय में होने वाली सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक उथल-पुथल को प्रतिबिंबित करता है। चाहे उसके लिए किसी भी शैली, किसी भी विधा का प्रयोग किया गया हो। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदी साहित्य का इतिहास' के प्रथम वाक्य इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। वे लिखते हैं ''प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृति का संचित प्रतिबिंब होता है।" जनता की चित्तवृति के परिवर्तन के साथ साथ साहित्य के स्वरुप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। अत: इतना निष्कर्ष तो हम निकाल ही सकते हैं कि साहित्य का आम आदमी से गहरा रिश्ता है और आम आदमी से कटकर न तो अच्छे साहित्य की रचना हो सकती है और न ही ऐसा साहित्य अधिक देर तक ज़िंदा रह सकता है। साहित्य और समाज के आपसी रिश्ते को ओजस्वी वक्ता और प्रखर चिन्तक रामधारी सिंह दिनकर ने भी अपनी पुस्तक 'साहित्य और समाज' में इस प्रकार कलमबद्ध किया है, "जातियाँ जिस प्रकार के विचारों में विश्वास रखती हैं उनके कर्म भी वैसे हो जाते हैं, उनकी कलाएँ भी वैसी ही हो जाती हैं।" अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' में रामस्वरुप चतुर्वेदी लिखते हैं, "संसार को समझना दर्शन का काम है, उसे बदलना राजनीति का और उसकी पुनर्रचना साहित्य का दायित्व है।" वास्तव में साहित्य और समाज का रिश्ता एक तरफा नहीं है। जैसा कि पहले भी कहा गया है, साहित्य जन मानस से प्रभावित होता भी है और उसे प्रभावित करता भी है। इसलिए किसी भी युग का विश्लेषण उस युग के साहित्य के आधार पर भी किया जा सकता है। जब कोई पाठक किसी कहानी या उपन्यास को पढ़ता है तो वह उस रचना की लय का तो आनंद लेता ही है परंतु साथ ही उस समय की संस्कृति को, परम्पराओं को, वहाँ के लोगों के खान-पान को, उन के रहन-सहन को, उन की वेश-भूषा को और उन के आपसी व्यवहार को, उस देश की आर्थिक स्थिति

और वहाँ की कानून तथा प्रबंध व्यवस्था इत्यादि कई विषयों के बारे में जानकारी प्राप्त कर लेता है। साथ ही किसी भी युग का साहित्य अपने अतीत और परम्परा से जुड़ा रहता है तो अवश्य ही युगपरिवर्तन के स्वर साहित्य में भी प्रतिध्वनित होंगे ही।

साहित्य का एक महत्वपूर्ण दायित्व मानवीय मूल्यों की रक्षा करना भी है। वह मानव मूल्यों का संरक्षक भी है और संवर्द्धक भी। आज के डिजिटल क्रांति के युग में आदमी की व्यस्तता बहुत बढ़ गई है। खास तौर पर उस नई पीढ़ी की जो अपने और अपने कैरियर के प्रति अत्यधिक सजग है और इस दौड़ में बेतहाशा भाग रही है। डिजिटल सिग्नलों की तरह वो भी शायद 0 और 1 में कोडिड है और ब्रॉड बैंड चैनलों में बहते बहते अपनी दुनिया को निरंतर संकुचित करती जा रही है। उसके लिए (क्या) यह दौड़ आवश्यक है। शायद हाँ। शायद यह उसके अस्तित्व का प्रश्न है। उसके होने या न होने का प्रश्न। सबसे नीचे या सबसे ऊपर होने का प्रश्न – 0 और 1 होने का प्रश्न। परंतु 0 और 1 ही सब कुछ नहीं होता। इनके बीच भी बहुत कुछ होता है जो हम स्थूल दृष्टि से नहीं देख पाते। जिसके लिए हमें सूक्ष्म दृष्टि चाहिए, एक ऐसी दृष्टि, जो हमें होने और न होने के बीच की संभावनाएँ दिखा सके। हमें सुखी और दुखी होने के बीच की अवस्थाओं में रहने का अभ्यास होना चाहिए। छोटी छोटी खुशियाँ बटोरने और बाँटने का अभ्यास। दूसरों की खुशियों में खुश होने का और उनके दुःख को महसूस करने का एहसास समाज को बाँधे रखने के लिए बहुत आवश्यक है। यह एहसास केवल एक संवेदनशील मनुष्य में ही हो सकता है। साहित्य मनुष्य की संवेदना को भी ज़िंदा रखता है, उसे मरने नहीं देता। 'हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास' के आमुख में ही रामस्वरुप चतुर्वेदी लिखते हैं 'भाषा, साहित्य और संस्कृति के अंतरसंपर्क से किसी भाषा क्षेत्र में और वहाँ के जन समुदाय में संवेदना विकसित होती है।'

साहित्य में उपलब्ध समाज निर्माण की संभावनाओं से भी इंकार नहीं किया जा सकता। मेरा यह अटूट विश्वास है कि यह दायित्व राजनैतिक नेताओं और धर्मगुरुओं का नहीं वरन् साहित्यकारों का है, साहित्य के सर्जकों का है। सर्जक के सृजन का, साहित्य का, शब्द का, विचार का अध्यात्म तमाम धार्मिक अध्यात्मों से बड़ा है। इसलिए हमें साहित्य को रूढ़ियों से मुक्त करने की आवश्यकता है। यदि साहित्य का परिदृश्य बदल रहा है तो उससे आंतकित होने की आवश्यकता नहीं है। हर ज़िंदा चीज़ में परिवर्तन होते हैं। साहित्य में भी होंगे। उसे सभी दिशाओं में बढ़ने की छूट दी जानी चाहिए। ईश्वर की तरह साहित्य का भी कोई परिमाप या परिमाण नहीं होता।

जब हम साहित्य की बात करते हैं तो हम साधारणतयः लिखित रुप में आने वाले साहित्य की ही बात करते हैं। यद्यपि जब लिखने या छपने की सुविधा उपलब्ध नहीं थी, तब कोई रचनाकार नहीं हुए होंगे अथवा उस युग की किसी भी कृति को साहित्यिक कृति नहीं माना जा सकता, यह कहना पूर्णतः अनुचित होगा। आज भी कितने ही पुराने लोक गीत, जो शायद कभी काग़ज़ पर नहीं उतर पाए होंगे, अपने समय के रस्मों, रिवाजों और संस्कृति की झलक लिए ज़िंदा हैं। परंतु अलिखित शब्द के खो जाने का ख़तरा हमेशा बना रहता है। रामचंद्र शुक्ल ने भी अपने इतिहास में आधुनिक गद्य-साहित्य-परंपरा के प्रवर्तन का विवेचन करते हुए जनता और शिक्षित जनता के बीच सूक्ष्म अंतर किया है। उन्होंने यह अंतर शायद इसलिए किया होगा कि शिक्षित होना अर्थात् पढ़ सकना साहित्य तक पहुँचने की पहली आवश्यकता है।

दरअसल ध्यान से देखें तो मनुष्य के इतिहास का अधिकतर समय ऐसा था जब अधिकतर लोग पढ़ना-लिखना बिलकुल नहीं जानते थे। शिक्षा केवल शक्तिशाली और शक्तिहीन के बीच की हदबंदी ही नहीं थी बल्कि स्वयं वह शक्ति थी जिसके दम पर दूसरों पर हावी हुआ जा सकता था और अपना विवर्धन किया जा सकता था। तब शिक्षा आनंद के लिए नहीं बल्कि वाणिज्यिक हिसाब का लेखा-जोखा करने के लिए, कूट संकेतों में दूर दराज़ तक संदेश भेजने के लिए, ईश्वरीय ज्ञान को अपने तक सीमित रखने और केवल अपनी सहूलियत और मर्ज़ी के अनुसार इसे दूसरों को देने के लिए तथा ऐसे ही कई अन्य कार्यों के लिए प्राप्त की जाती थी जिनसे अपनी प्रभुसत्ता स्थापित की जा सके। प्रत्येक शिक्षित वर्ग में शिक्षा का प्रचलन पुरुष शासक वर्ग के विशेषाधिकार को स्थापित करने के लिए प्रारंभ हुआ। ध ीरे-धीरे शिक्षा निचले स्तरों तक फिल्टर होते हुए आम आदमी तक पहुँची और उसकी गोपनीयता कम हुई। हम उस युग को याद करें कि जब धर्मगुरु केवल थोड़ा सा पढ़ सकते थे, साधारण पुरुष पढ़ना नहीं चाहते थे और स्त्रियों का पढ़ने की आज्ञा नहीं थी। आज भी कुछ कंज़र्वेटिव समाजों में यह कुप्रथा जारी है।

तो हम लिखित साहित्य की बात कर रहे हैं। वेबस्टर की डिक्शनरी के अनुसार 'साहित्य गद्य अथवा पद्य में लेखन है; विशेषकर वह लेखन जो रुप और अभिव्यक्ति में उत्कृष्ट हो और जिसमें स्थायी या समष्टीय रुचि के विचारों का व्यक्तीकरण हो।' यह परिभाषा (चाहे पूर्ण न हो तो भी) काफ़ी महत्वपूर्ण है। सबसे पहले तो यह कि साहित्य अभिव्यक्ति है, अभिव्यक्ति विचारों की, अभिव्यक्ति भावों की, पीड़ा की, खुशी की, उमंगों की, निराशाओं की, घटनाओं की, अभिव्यक्ति कल्पनाओं की, अभिव्यक्ति सपनों की। दूसरे इसमें स्थायित्व अति आवश्यक है। साहित्य ख़बर नहीं है जो आज अख़बार के मुख्य-पृष्ठ की सुर्खी है तो कल रद्दी की टोकरी की शोभा। अच्छी रचना चिर स्थायी होती है। उसे जब, जिस काल में उठा कर पढ़ा जाएगा, ताज़गी का एक एहसास लिए हुए होगी। एक अच्छी रचना में एक प्रवाह होता है जिस की वजह से उपलब्ध प्रसंग और प्रतीक रुपान्तरित होते रहते हैं और उसके नए-नए अर्थ खुलते रहते हैं। इसलिए रचना के उत्कृष्ट होने पर बल दिया गया है। अंत में साहित्य के समष्टीय चरित्र की बात करते हैं। जब कोई रचनाकार कुछ रचता है तो शायद वह अपने ही अनुभवों, अपने ही भावों को चित्रित कर रहा होता है परंतु वास्तव में उसका अनुभव केवल उसका अनुभव नहीं होता, उसके सपने केवल उसके सपने नहीं होते, उसका दर्द केवल उसका दर्द नहीं होता। वह जिस समाज में रहता है उसकी अपेक्षाएँ, उसके सुख-दुख, उसकी समस्याएँ उसे भी छूती हैं। दरअसल समाज का दुख उसको और उसका दुख समाज को छूता है। यद्यपि साहित्य एक रचनाकार के रचना-व्योम की रागात्मक कल्पना है, उसमें उसके आस-पास के वातावरण में दौड़ती तंरगें भी शामिल होती हैं। यहीं पर साहित्य समाज से जुड़ जाता है। अच्छा साहित्यकार ज्ञान और संवेदना के सूक्ष्म स्तरों तक पहुँचने में हमारी मदद करता है।

साहित्य सृजन का काम आसान नहीं है। साहित्यकार को अभिव्यक्ति की पीड़ा से गुजरना पड़ता है। यह पीड़ा शिशु-जन्म पर होने वाली प्रसव-पीड़ा सी ही कष्टप्रद होती है। परंतु इसमें वह सुख भी छुपा रहता है जो एक माँ को अपने नवजात शिशु को देखने के पश्चात् मिलता है। बल्कि इसमें सुख और भी अधिक है। रचना जन्म लेने के पश्चात् केवल उसके रचियता की ही नहीं रहती, पूरे संसार की हो जाती है। कविता उत्पन्न कहीं और होती है और शोभा कहीं अन्यत्र पाती है। केवल स्वान्त सुख के

लिए लिखने की फिलॉसफी से मैं कदापि सहमत नहीं हूँ। चाहे कवि, लेखक, रचनाकार कितने भी निजी अनुभवों को ही क्यूँ न चित्रित कर रहा हो, उसमें कुछ न कुछ ऐसा अवश्य होगा जो किसी न किसी को छू जाएगा। हर व्यक्ति में समष्टि और समष्टि में व्यक्ति छुपा रहता है। और कुछ न सही, अच्छी रचना साहित्य के प्रति चेतना तो उत्पन्न करती ही है। अर्थात् एक उत्कृष्ट रचना किसी न किसी रूप में मानव जाति की सेवा करती ही है। यह भी साहित्य का सामाजिक पक्ष है। हजारी प्रसाद द्विवेदी सरीखे साहित्यकार ने ऐसे ही साहित्य-साधकों को अपनी पुस्तक 'हिंदी साहित्य: उदभव और विकास' समर्पित करते हुए कहा है – "अपनी मूक सेवाओं से साहित्य को महान और गतिशील बनाने वाले अगणित, अख्यात और अज्ञात साहित्य साधकों को यह पुस्तक समर्पित है।"

सच है कि कलम ने जहाँ प्रेम और प्रणय जैसे अत्यंत निजी एहसासों को पुष्पित-पल्लवित होने का अवसर दिया है, वहीं क्रांतियाँ भी उठाई हैं। मुझे अपनी लिखी दो पंक्तियाँ यहाँ उपयुक्त लग रही हैं:

लावा बन बहने लगते हैं जब ये खौलते हैं।
मैं चुप रहता हूँ बस मेरे शब्द बोलते हैं।

शब्द की शक्ति सृजन में निहित है। सृजन साहित्य की गति है। परन्तु क्या आज साहित्य हाशिए पर नहीं है! कारण कुछ भी हों, क्या साहित्य लगातार आम आदमी से अपनी दूरी नहीं बना रहा? क्या साहित्य के छात्रों के सिवा कोई साहित्य पढ़ता है? क्या पोयटरी का अर्थ सिर्फ फिल्मी गीत और म्यूजिक वीडियो बनकर नहीं रह गया? क्या सतही भावों-आवेगों को उभारने वाले लयबद्ध गीतों के शोर में आत्मचिंतन और आत्मावलोकन के स्वरों वाली कविता कहीं खो नहीं गई है? क्या आज का आदमी लिखित साहित्य से दूर नहीं होता जा रहा? अवश्य हो रहा है। अमेरिका की संस्था NEA (National Endowment for Art) द्वारा किए गए एक सर्वे के अनुसार इस सर्वे में भाग लेने वाले लोगों में से 43 प्रतिशत लोगों ने पूरे वर्ष में एक भी किताब नहीं पढ़ी, साहित्यिक पुस्तक की तो बात ही क्या! दरअसल रचनाकार और पाठक एक ही सूत्र के दो सिरे हैं। कोई भी रचना अपने पाठक तक पहुँच कर ही सार्थक होती है। रचनाकार को भी इसी से बल मिलता है कि कोई उसकी रचना पढ़े। पाठकों की प्रतिक्रियाएँ उसको स्फूर्ति और नई ऊर्जा प्रदान करती हैं और ये पाठक साहित्यलोचक भी हो सकते हैं और आम पाठक भी। इसलिए किसी भी साहित्यिक कृति का उसके पाठक तक पहुँचना नितांत आवश्यक हैं। इसकी पूरी जिम्मेदारी पुस्तकों और उनके प्रकाशकों पर, लघुपत्रिकाओं और उनके संपादकों पर है।

पाठक और लेखक के बीच कच्चे-पक्के पुल बनाने में लघुपत्रिकाओं का आरंभ से ही बहुत बड़ा योगदान रहा है। यद्यपि पुस्तकों की अपनी एक दुनिया है और अन्य विषयों की तरह साहित्यिक पुस्तकें भी अपनी पूरी चमक दमक के साथ लगातार पुस्तकालयों, वाचनालयों और बाज़ार में उपलब्ध रहती हैं, तो भी साहित्य के क्षेत्र में लघुपत्रिकाओं की भूमिका को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। यहाँ हम न तो पुस्तकों के योगदान को कम बताने की कोशिश कर रहे हैं, न ही उनके द्वारा मिलने वाले साहित्यिक खजाने को कम आँकने की कोशिश कर रहे हैं। हम सिर्फ लघुपत्रिकाओं की सार्थक भूमिका का संक्षिप्त मूल्याँकन करने की कोशिश कर रहे हैं। उनसे उत्पन्न होने वाली संभावनाओं और उनकी

सीमाओं पर एक बहस छेड़ रहे हैं।

आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास को रुप देने में साहित्यिक पत्रकारिता का योगदान महत्वपूर्ण है: विचार की दृष्टि से भी और रचनात्मकता की दृष्टि से भी। लघुपत्रिकाओं ने साहित्य के प्रतिमान भी स्थापित किए हैं और इसे नए आयाम भी दिए हैं। साहित्य की अनेक विधाओं को लघु पत्रिकाओं के माध्यम से उभारा गया। अनेक साहित्यिक आंदोलन लघु पत्रिकाओं से ही स्थापित हुए हैं। अधिकतर लघु पत्रिकाओं का संपादन साहित्यिकारों ने ही किया और प्रतिभाशाली लेखकों की कलम को पहली ज़मीन दी। वास्तव में, नए लेखकों की खोज भी अधिकतर लघु पत्रिकाओं ने ही की। क्योंकि नए लेखकों को न तो पुस्तकों के प्रकाशक ही घास डालते हैं न ही स्थापित, प्रसिद्ध और बड़ी पत्रिकाएँ ही। कई बार नए लेखक खुद ही इन बड़ी पत्रिकाओं में अपनी रचनाएँ भेजने की हिम्मत नहीं जुटा पाते। अनेक जाने माने साहित्यिकारों ने साहित्यिक पत्रकारिता को नए रचनाकारों की तलाश का माध्यम बनाया। भारतेंदु की 'कवि वचन सुधा', द्विवेदी जी की 'सरस्वती', पंत की 'रुपाभ', प्रसाद की 'इंदु', अज्ञेय की 'प्रतीक', हरिशंकर परसाई की 'वसुधा', प्रेमचंद की 'हंस' और 'माधुरी' ऐसी कुछ महत्वपूर्ण पत्रिकाओं के उदाहरण हैं।

लघु पत्रिकाओं ने एक नए पाठक वर्ग का भी निर्माण किया है। ये लेखकों की पीड़ा, दृष्टि और विचार को विवेकशील पाठक तक पहुँचाने का काम कर रही हैं। नवलेखन और नवसृजन यदि आज पाठकों तक पहुँच पा रहा है तो वह इन पत्रिकाओं द्वारा ही हो रहा है। ऐसे में लघु पत्रिकाओं का और उनके संपादकों का दायित्व और भी अधिक बढ़ जाता है। मौलिक चिंतन को, स्वतंत्र अभ्व्यक्ति को इनमें उचित स्थान मिलना चाहिए। मानवीय मूल्यों की रक्षा करना भी इनका दायित्व है। इन्हें समाज में एक बौद्धिक वातावरण बनाने में सहयोग देना चाहिए, हाशिए के समाज की आवाज़ उठानी चाहिए तथा किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रहों से, वादों से, नारों से और सनसनीख़ेज़ फतवेबाज़ी से तथा खेमेबंदी से बचना चाहिए। हिंदी का सबसे अधिक नुकसान खेमेबंदी ने किया है। अपने लेखकों का और बौद्धिक क्षमता और बौद्धिक भूख रखने वाले पाठकों को जोड़ने का हर संभव प्रयास करना चाहिए। लेखक और पाठक के संसार को संकुचित रखने पर न तो भाषा का ही भला होगा, न पत्रिका का और न ही साहित्य का। इन्हें भाषा के प्रति भी अपनी नैतिक जिम्मेदारी का एहसास होना चाहिए। इन पत्रिकाओं को आत्मानुशासन रखते हुए, लेखक वर्ग का उत्तरोत्तर विकास के लिए पर्यत्नशील रहना होगा।

परंतु परिस्थितियाँ उनके अनुकूल नहीं है। नई पीढ़ी में साहित्य और साहित्यक पत्रकारिता के प्रति अरुचि है। इलेक्ट्रानिक मीडिया की बढ़ती लोकप्रियता ने भी पढ़ने-पढ़ाने की आदत पर कई कुठाराघात किए हैं। धन के अभाव में अधिकतर लधु पत्रिकाएँ गिरते, पड़ते, लड़खड़ाते चल रही हैं। हर वर्ष कितनी ही साहित्यक पत्रिकाएँ काल-कवलित हो जाती हैं। सूर्योदय के साथ उगने वाली और सूर्यास्त के साथ डूब जाने वाली पत्रिकाओं की संख्या कम नहीं है। इनके साथ ही इन में छपी रचनाएँ और रचनाकार भूले-बिसरे गीत बन जाते हैं। अखबार जैसा माध्यम तो गंभीर साहित्य को पूर्णतया नकार रहा है लेकिन परिदृश्य इतना भी हतोत्साहित करने वाला नहीं है। साहित्यक पत्रकारिता की भूमि बंजर नहीं है। और न ही इस खेत में केवल खर पतवार ही उगते हैं। अनेकों पत्रिकाएँ टी. वी. चैनलों और मसाला मैगजीन्स की आँधियों का सामना करते हुए भी अपनी साहित्यिक प्रतिबद्धता का ध्वज उठाए खड़ी हैं, एक मूल्यपरक संघर्ष में जुटी हैं। मेरा सौभाग्य है कि ऐसी ही एक साहित्यिक लघुपत्रिका

अनभै सांचा से सह-संपादक के रूप में मैं भी जुड़ा हूँ।

अंत में मैं अपनी बात यह कह कर समाप्त करना चाहूँगा कि साहित्य, समाज और संस्कृति के बीच एक अटूट रिश्ता है। लेकिन कोई भी साहित्य तब तक सार्थक नहीं होगा जब तक वह आम आदमी से नहीं जुड़ेगा। पुस्तकें और लघुपत्रिकाएँ लेखक और पाठक के बीच एक अनिवार्य सेतु बनाती हैं। चमकहीन, साधारण सी दिखने वाली पत्रिकाएँ अपने भीतर अनेक संभावनाएँ लिए हुए हैं। लेखक, पाठक, प्रकाशक, संपादक साहित्य सृजन की प्रक्रिया की अभिन्न कड़ियाँ हैं। इन सबको जिम्मेदारी से काम करना होगा तभी उत्कृष्ट साहित्य की रचना तथा एक आदर्श समाज की पुनर्रचना हो पाएगी।

❑❑❑

हिन्दी साहित्य, हिन्दी पाठक और विडम्बनाओं का मकड़जाल

डॉ. मधु लोमेश
सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
अदिति महाविद्यालय

साहित्य का प्रभाव स्थायी होता है। चिरजीवी, कालजयी साहित्य मानवजीवन के अनंत विस्तार को समेटे, अतीत वर्तमान और भविष्य के सुन्दर स्वरूप को सत्यं शिवं की कसौटी पर खरा उतरते हुए अपनी उपादेयता सिद्ध करता है। साहित्य जीवन है मनुष्य की चिन्तनशील प्रवृत्ति का परिणाम ही साहित्य के रूप में विकसित होता है। समाज, संस्कृति, आचार-विचार परम्परा आदि का निर्देशक साहित्य मानव का सहचर है। बदलती परिस्थितियों में बहुत कुछ बदल गया है। भाषा-संस्कृति विचारधारा, मानवीय सोच, मानव-सम्बन्ध, सम्बन्धों की परिकल्पनाएँ आज नये रूप में हमारे समक्ष है। साहित्य भी अछूता नहीं रहा। मीडिया, बाजार तकनीक के प्रभाव और बढ़ते वर्चस्व ने आज साहित्य को अप्रासंगिक बना दिया है। पंत के अनुसार "सरिता में भी जीवन है जिससे सरिता सरिता है।" – अर्थात जीवन में गतिशीलता अनिवार्य तत्व है अन्यथा गति न रहने पर जीवन मृतप्राय हो जाता है इसी प्रकार क्या आज की स्थिति यह मान ली जाए कि साहित्य की गतिशीलता, प्रगति, विकास महत्ता के अभाव में साहित्य मतप्राय हो गया है? वास्तव में किसी भी साहित्य के लिये ऐसी स्थिति नैराश्यपूर्ण है। विश्व में अभी न जाने कितने साहित्यों का जीवन समाप्त हो चुका है। कितने साहित्य अपने अस्तित्व के लिये संघर्ष कर रहे हैं और न जाने आगामी समय में कितने नये साहित्यों का विकास संभवित है। अग्रेंजी, जर्मन, फ्रेंच उर्दू, रूसी, चीनी जापानी आदि सैकड़ों भाषाओं के जीवित साहित्य विभिन्न समाजों में निरन्तर प्रगतिशील हैं, उनमें परिवेशजन्य निकटता, जीवंतका, गतिशीलता पहले की अपेक्षाकृत आज अधिक देखी जा सकती है। हिन्दी साहित्य इस दृष्टि से इतनी समृद्ध स्थिति में नहीं कहा जा सकता । हिन्दी साहित्यकार और हिन्दी पाठकों को लेकर अनेक विडम्बनाएं नए परिप्रेक्ष्य में उपजी है जिनपर गम्भीर विवेचन किया जाना चाहिए।

हिन्दी साहित्य का वह भी एक दौर था जब साहित्य ने समाज की दिशा बदल दी। भक्त कवियों ने लोकपक्ष के व्यावहारिक तथा सैद्वान्तिक दोनों ही रूप जनता के सामने रख समाज में व्याप्त कुरीतियां पर प्रहार किया संकीर्ण विचारधाराओं का खण्डन किया, मानव मात्र की एकता का पाठ पढ़ाया। आधुनिक काल में देश काल की परिवर्तित परिस्थितियों के दौरान भी हिन्दी साहित्य में समाज- धर्मिता क्रांति उत्पन्न करने की देशभक्ति क्षमता क्षीण नहीं। 'सरस्वती' के माध्यम से स्वाध ीनता संग्राम को तीव्र करने का जज्बा जगाने और हिन्दी साहित्य से पाठकों को सरोबार करने का सिलसिला हिन्दी साहित्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। एक ओर कलम की तलवार से अग्रेजों का मुकाबला करने का अदम्य साहस या तो दूसरी ओर हिन्दी अहिन्दी भाषियों को समुन्नत हिन्दी

साहित्यकारों को सामाजिक प्रतिबद्धता ने सभी चुनौतियों को स्वीकार करते हुए समाज हित में युगान्तकारी भूमिका निभाई। इस संघर्ष में हिन्दी भाषी, सक्रिय पाठक-वर्ग प्रबुद्ध वर्ग ने जिस आत्मीयता से उनके स्वपनों को मूर्त्त रूप प्रदान किया वह सराहनीय था। साहित्यकारों के पारस्परिक वाद-विवाद नोक-झोंक हिन्दी साहित्य को गति प्रदान करती प्रखर व्यंग्य आलोचनाओं की मार सहते हुए युगीन साहित्यकारों ने उत्कृष्ट लेखन किया। वादों-प्रतिवाद, मत-वैभिन्नय से दूर उनकी रचना-धर्मिता आगामी साहित्यकारों के लिये नए मील का पत्थर स्थापित करने में जुटीं रहीं। पाठकों का असीम स्नेह उनका मार्ग प्रशस्त करता दिखता। लीक पर चलने का अपना अभीष्ट न स्वीकार करते हुए सामाजिक दृष्टि से उपादेयी विचारों, प्रगतिशील चिन्तन नवीन प्रयोगों द्वारा एक नए मार्ग को आलोकित करने की आवश्यकता पर बल दिया गया। आधुनिकता एवं नवनिर्माण की दिशा में सचेष्ट रहते हुए वे इतिहास परम्परा सामाजिक सरोकारों से सदैव जुड़े रहे। समय परिवर्तन के साथ आज हिन्दी साहित्य सम्बन्धी सोच, सरोकार, संस्कारशीलता भी परिवर्तित हुई है।

हिन्दी साहित्य आज संकट क दौर में है। साहित्य के प्रति पहले जैसा रुझान न होने से हिन्दी साहित्य आज निरंतर उपेक्षणीय होता जा रहा है। आधुनिक जीवन शैली, अत्याधुनिक बनने दिखने के नाम पर हम जिस अभिशाप जीवन जीने को विवश है वहां बौद्धिक दम्य है, लोक जीवन में समरसता का अभाव है। अपने साहित्य से बेगाना होने की प्रवृत्ति प्रमुख है। मीडिया युग की आरामपरस्तगी के माहौल में चिन्तन-मनन फालतू का काम समझा जाने लगा है। आसान सा काम है-टी.वी., कम्पूयटर खोल उसी की दुनिया में रम जाओ। पठनीय सामग्री, साहित्य, किताबें हमारी जीवन शैली से कब की बाहर हो चुकी हैं। सुप्रसिद्ध विचारक आलोचक नामवर सिंह ने उचित ही कहा है कि – "नई पीढ़ी अपना अलग रास्ता तलाश रही है, उनमें कोई कवि, चित्रकार नहीं बनना चाहता।" आज इस ओर गहराई से विचार करने की जरूरत है कि स्वयं को तथाकथित आरोपित बौद्धिक दम्भ, छदम् पूर्वाग्रहों से मुक्त करते हुए जीवन के मनोहारी और शुष्क दोनों रूपों का अवलोकन करते हुए हिन्दी साहित्यानुशीलन की प्रवृत्ति उनमें कैसे विकसित की जाए।

साहित्य की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। जीवन में आदर्श और यथार्थ, उच्च भावनाओं के प्रचार-प्रसार संस्कारयुक्त बनाने का कार्य साहित्य द्वारा सम्पन्न होता है। मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में उत्कर्ष का परिचायक बन साहित्य संजीवनी शक्ति सदृश कार्य करता है। हिन्दी साहित्य एक गौरवशाली परम्परा का निर्वहन करते हुए भारतीय समाज जनमानस का मार्ग प्रदर्शक बना रहा है। इतिहास साक्षी है कि विपरीत परिस्थितियों में भी का मार्गप्रदर्शक बना रहा है। इतिहास साक्षी है कि विपरीत परिस्थितियों में भी हिन्दी के साहित्यकार अपने कर्त्तव्य पथ से विमुख नहीं हुए। व्यवस्था अव्यवस्था के दौर में भी उपयोगी, परिष्कृत प्रभावपूर्ण साहित्यिक कृतियों द्वारा हिन्दी साहित्य की आशातीत वृद्धि हुई। भाव शैली पर विदेशी साहित्य की छाया से हिन्दी साहित्य की विधि विधाओं पर सकारात्मक प्रभाव-प्रस्तुति ने नए आयाम प्रदान किये। संस्कृत बंगला, अंग्रेजी साहित्य से प्रेरित हो हिन्दी साहित्य का विकास क्रम मूलतः भारतीय समाज के अनुकूल ही हुआ है। आज सुविधाएँ अनन्त हैं। विज्ञान और तकनीक सूचना प्रौद्योगिकी के प्रचार प्रसार में साहित्य और कलाओं पर सकंट मंडराने लगा है। भारत की विविध भाषाओं के साहित्य पर विहंगम दृष्टि डाली जाए तो निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है पिछले कुछ दशकों में साहित्य की स्थिति रचनाध

र्मिता प्रभावति हुई। उत्कृष्ट साहित्य लेखन किस प्रकार का हो? आज के दौर में बाजारवादी अवधारणा के हावी होने और समाज का बाजार के रूप में परिवर्तन हो जाने से कैसा साहित्य मुख्य धारा के साहित्य का प्रतिनिधित्व करता हुआ माना जाए? पाठक-वर्ग किस प्रकार के साहित्य का अनुशीलन अधिक कर पाये? क्या उसकी अभीष्ट पसंद के अनुरूप साहित्य लेखन रचा जा रहा है?

उपर्युक्त प्रश्न विचारणीय है इन्हें इसलिये भी महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए कि विदेशों में कॉन्ट्रेक्ट बेस पर साहित्य, विपुल मात्रा में साहित्य लिखवाने का क्रम आरम्भ हो चुका है, गुप चुप तरीके से भारत में भी ऐसी स्थितियाँ चलायमान है। हिन्दी जगत में स्नोवा बार्नो को लेकर उठा विवाद, अटकलों का दौर हिन्दी साहित्य प्रेमियों में छदम नाम से साहित्यिक आतंक उपजाने और सफलता क लिये बैसाखियों का सहारा तलाशें जाने की एक अलग ही शैली प्रस्तुत करता है। यहां रचना पीछे छूट जाती है, रचनाकार के होने न होने उपस्थिति-अनुपस्थिति सम्बन्धी विवाद प्रमुख हो जाते हैं। लोकप्रियता जुटाने के नाम पर साहित्य को धोखेबाजी का शिकार बनाना जागरूक पाठक वर्ग और हिन्दी साहित्य के लिये क्या संदेश दे रहा है? स्त्री विमर्श, दलित विमर्श के नाम पर जो सूझ रहा है बहती गंगा में हाथ धोने का प्रयास कर साहित्यिक बिरादरी में शामिल होने का जुनून सवार है, तुकबंदी कर कवि बनने का श्रेय ले जाने की होड़ मची है। सतही लिखने की प्रवृत्ति युगीन साहित्यकारों की प्रिय प्रवृत्ति है। हिन्दी साहित्य की जिस गरिमामयी बेल का सदियों से यत्नपूर्वक सींचा गया, शायद आज वह मुरझाने की अवस्था में है।

बदलते दौर में साहित्य के लिये स्पेस बचा है? साहित्य के लिये अपेक्षित परिवेश बाजारवाद, उपभोक्तावाद की भेंट चढ़ चुका है। हिन्दी साहित्य के प्रति युवा पीढ़ी उदासीन है। अग्रेंजी साहित्य के प्रति रूझान पहले भी अधिक था पर हिन्दी साहित्य को लेकर साहित्य प्रेमियों में उत्साह कम नहीं था। अपने तीखे तेवरों राष्ट्रनायक सरीखी उपलब्धियों के परिणामस्वरूप दिनकर का व्यक्तित्व युवाओं को आकृष्ट करने में सक्षम था। कवि सम्मेलनों साहित्यिक आयोजनों में निरंतर अपनी उपस्थिति बनाते हुए पंत निराला, महादेवी दिनकर ने जनता के दिलों पर राज किया। राष्ट्रकवि जिंदाबाद जैसे नारों में विशाल जनसमूह में घिरे दिनकर भारी मशक्कत के पश्चात ही मंच पर आसीन हो पाते थे। अनेक अवसरों पर उन्हें छात्रों, युवाओ की उग्र भीड़ के समक्ष आयोजन स्थल के बाहर ही कविता पाठ करना पड़ता ताकि उपस्थित सस्नेही पाठक श्रोता वर्ग की मनोवृत्ति को काबू में लाया जा सके। परिणामत: अन्दर के दर्शक भी बाहर ही उन्हें सुनने उमड़ पड़ते। आज ऐसी स्थितियाँ आश्चर्य जनक ढंग से लुप्त हो चुकी हैं। साहित्यिक-सेमिनार काव्य संगोष्ठियों, पुस्तक-लोकापर्ण, सुप्रसिद्ध साहित्यकारों के शताब्दी समारोह में अपेक्षित पाठक वर्ग कहौ और कितनी संख्या में मौजूद हैं?

साहित्यकार और पाठक के तथाकथित भावात्मक संम्बन्ध लुप्त प्राय हैं। हिन्दी साहित्यकारों की कुछ विडम्बना ही है कि आजीवन उल्लेखनीय उपलब्धियाँ देते हुए, साहित्य की निरंतर सेवा में कार्यरत रहते हुए भी वे यथाचित मान-सम्मान से वंचित रहते हैं। लेखक मन की अंतहीन छपपटाहट कुठाएँ, बेचैनी पाठकों के स्नेह सम्मान से सुकून पाती दिखती है। पाठक वर्ग की आत्मीयता साहित्यकारों के लिये ऐसी पूंजी के रूप संचित रहता है जो उन्हें प्रेरित करता है। आज के हाइटैक समाज में शुष्क होती संवेदनाएँ टीस उत्पन्न करती हैं। सुप्रसिद्ध साहित्यकारों के संदर्भ में महत्वपूर्ण सूचनाएँ जनसंचार

माध्यमों द्वारा प्राप्त कर उनके अस्वस्य होने दिवंगत होने पर पाठकों की प्रतिक्रियाएँ 'रूटीन वर्क' से अधिक कुछ नही। यही कारण है कि भावात्मक संवेदनाओं के अभाव में- साहित्य आज दोयम दर्जे का काम माना जाने लगा है। हिन्दी साहित्य की अनगिनत प्रमुख विधाएँ-रेखाचित्र, संस्मरण, डायरी लेखन, यात्रा वृत्तान्त, वृहद उपन्यास, निबंध आज हाशिए पर सिमटते जा रहे हैं। परिस्थितिय जन्य उपजा ऐसा परिवेश साहित्यकारों की रचनाधर्मिता को प्रभावित कर रहा है। रचनात्मक शक्ति क्षीण होने से यहे दुष्प्रभाव निश्चय ही भारतीय संस्कृति समाज के लिये घातक सिद्ध होगें। साहित्य के अभाव में चारित्रिक औदात्य का ह्रास अति भौतिभावा जीवन दृष्टि सम्बन्धों में लुप्त होती उष्मा, भौतिक सुखों के लब्बोलुआब में कहीं खो जाने और जीवन की पराकाष्ठा अनुभव करने का अभाव सालता है। वह साहित्य जो ब्रह्मानन्द सहोदर मानवीय गुणों को विकास करने में सहायक, समाज की प्रेरक शक्ति के रूप में जाना पहचाना गया आज उसकी उपादेयता को लेकर उहापोह की स्थिति है। आलम यह है कि-

'बातें करती हैं किताबें, सुनने वाला कौन है?
सब बरक यों ही उलट देते हैं पढ़ता कौन है?

नए दौर में साहित्य को समेटने, सहेजने के नए नए फार्मूले इजाद किये जा रहे हैं। पाठकों का साहित्य से जोड़ने के लिये बाजारवादी तकनीकों का प्रयोग किया जाने लगा है। पुस्तक मेलों में भीड़ जुटाने के लिये पुरस्कार स्वरूप साहित्य आबंटन मुफ्त पास उपलब्ध कराने, सेलिब्रेटिज का सान्निध्य आदि तरीके उम्मीद है कारगर सिद्ध होगें। काश पढ़ने लिखने की चिरप्राचीन पर आज विस्मृत वह संस्कृति पुर्नाजीवित हो इस मॉल संस्कति, टेलिविजन कल्चर को गच्चा देने में कामयाब हो जाए। शिवशम्भू की सी एक दुराशा जगाने में हर्ज ही क्या है? कदाचित इसी प्रयोजन से गम्भीर साहित्यिक बहसों का दौर लौट आए, नीख पड़े कॉफी हाउस के दिन फिर जाएँ। आपका बंटी धारावाहिक के रूप में साप्ताहिक में प्रकाशन के दौरान पाठकों की प्रतिक्रियाएँ आगामी कथा को आयाम प्रदान करने में जैसे महत्वपूर्ण भूमिका निभा देती थी क्या ऐसा पुनः सम्भव होगा? क्या वह युग लौटेगा?

आधुनिक भारत में हिन्दी साहित्य की स्थिति, साहित्यिक जगत की मानसिकता में अनेक बदलाव देखे गये हैं। सांस्कृतिक अतिक्रमण से बौखलाए या यों कहा जाए आहत साहित्यप्रेमी प्रबुद्ध समाज की प्रतिक्रियाविहीन इच्छा शक्ति के समक्ष अनेक विडम्बनाओं के साक्ष्य हैं। जिसने उनकी रचना धर्मिता को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया है। साहित्य जैसे ईमानदार और सच्चे संसार में भ्रष्टताएँ, राजनीतिक षड़यन्त्र बनाने-बिगाड़ने के खेल साहित्यकार के कोमल मन को ठेस पहुँचाते है। धर्म-अर्थ काम-मोक्ष में अर्थतत्व की प्रधानता हिन्दी साहित्यकारों को रातों रात प्रतिष्ठित होने का लोभ सेलिब्रटिज साहित्यकार बनने को प्रेरित करता है। लेखक-प्रकाशकों के गरिमामय सम्बन्ध अनर्गल प्रलापों की भेंट चढते दिखते हैं, महिला साहित्यकारों की प्रसिद्धि अनेकों तीरअंदाजों को हूजम नहीं होती या कभी गाहे बेगाहे समाज अपने पुराने लाव-लश्कर के साथ चैतन्य दिखता है। हॉल ही में साहित्य अकादमी और सैमसंग के कारपोरेट पुरस्कार हिन्दी साहित्य में बहुर्राष्ट्रीय कम्पनियों के दखल की नयी गाथा कहने को अग्रसर है। योग्यता आज साहित्यकारों की प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा का मानदण्ड नहीं रह गयी। चाटुकारिता राजनीतिक प्रमुख आज साहित्यकार बड़े साहित्यकार और उत्कृष्ट कोटि के साहित्यिक की नयी परिभाषा गढ़ने को उद्यत हैं। नीर-क्षीर विवेक के अभाव में

साहित्यिक पुरस्कारों सम्बन्धी विवाद साहित्यिक पद नित्य ही समाचारों की सुर्खियां बनते हैं। ढुलमुल व्यवस्था, भ्रष्ट नीतियों का शिकार बन प्रतिभासम्पन्न साहित्यकार हाशिए पर धकेल दिया जाता है। जहाँ गुमनामी का जीवन बसर करते हुए वह पहचाना जाएगा अपनी उत्कृष्ट कृतियों के आलोक में पर मृत्युपरांत। साहित्यिक कैलंडरों में आकर्षक मुद्राओं में सजे ऐसे दुर्लभ साहित्यकार किंगफिशर के कामोत्तेजक कैलेण्डरों की चुनौती में निश्चित तौर पर मात खाते दिखेंगे।

हिन्दी साहित्य की समृद्धि खो रहीं लोकप्रियता को लेकर चिंता जायज है। हिन्दी भाषा के प्रचार प्रसार द्वारा जनसंचार माध्यमों का कारोबार पहले की अपेक्षा अधिक फल -फूल रहा हो और हिन्दी साहित्य की स्थिति पहले की अपेक्षा कमजोर हुई हो तो विचारणीय है कि चूक कहाँ हो रही है? साहित्य सम्बन्धी अनुदान-राशि प्रोत्साहन पैकेज, साहित्यिक संस्थाओं व अन्य संस्थओं के प्रति उपेक्षापूर्ण अपने अस्तित्व की पहचान बनाने के लिये अनेक मोर्चों पर लड़ रहा है। समकालीन परिस्थितियों राजनीतिक दुष्चक्रों समकालीन वाद-प्रतिवादों पाठकीय उपेक्षा सो राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी सम्मेलन, साहित्यिक मंच एक अलग ही दिशा की ओर उन्मुख है आज कोई साहित्यिक आन्दोलन नहीं-कोई प्रमुख साहित्यिक विचारधारा नहीं। फिर भी संघर्ष जारी है – इसी उम्मीद पर हिन्दी जगत, हिन्दी साहित्यिक गरिमा, हिन्दी साहित्यकारों की लुप्त होती रचना धर्मिता और पाठक वर्ग की सक्रियता पर हिन्दी प्रेमी आस लगाए बैठें हैं। स्वाति नक्षत्र की ओर।

❑❑❑

बदलते हुए भारत में हिन्दी साहित्य के सामने उठते नए प्रश्न : शंकाएं और समाधान

डॉ. कमलेश कुमारी
हिन्दी विभाग
शहीद भगत सिंह कॉलेज
(दिल्ली विश्वविद्यालय)

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत् नियम है तथा किसी भी परिवर्तन का प्रभाव तत्कालीन समाज पर स्पष्ट परिलक्षित होता है। किसी देश का बाहरी ज्ञान हम उस देश के तत्कालीन इतिहास को पढ़कर पा सकते हैं पर उस राष्ट्र या जाति के आभ्यन्तरिक भाव हमें तत्कालीन साहित्य पढ़कर ही पता चल सकते हैं और चूंकि साहित्य का सम्बन्ध उद्‌गारों व विचारों से है इसलिए साहित्य को यदि जनसमूह के चित्त का चित्रपट कहा जाये तो संगत है।

जैसे-जैसे युग व समाज बदलता गया साहित्य का स्वरूप भी तद्‌नुसार आकार ग्रहण करता गया। आर्यों से लेकर आधुनिक युग तक बतलाते हुए भारत में समय के साथ-साथ साहित्य नित नयी करवट लेता रहा है। इस सदंर्भ में हिन्दी साहित्य की बात करें तो पायेगें कि आज का हिन्दी साहित्य आधुनिकता को पुराना मानकर उसे पीछे छोड़ते हुए आगे बढ़ रहा है। सूचना क्रान्ति ने आज विश्व को ग्लोबल विलेज बना दिया है। यह उत्तर आधुनिकता का युग है। हमारी जीवन शैली संस्कार, संस्कृति, सोच, चिन्ता एवं दृष्टि सभी कुछ तो बदल गया है तो फिर इस बदलाव की गूँज साहित्य में न सुनाई पड़े यह कैसे संभव है।

स्वतंत्रता के पश्चात् जैसे-जैसे जमींदारी प्रथा समाप्त होने लगी तो जातिव्यवस्था में भी बदलाव आना शुरू हुआ तथा जातिगत बंधन कुछ ढीले होने लगे। अछूतों के प्रति जो दृष्टिकोण था उसमें तेजी से परिवर्तन हुआ और आज यह बदलाव हिन्दी साहित्य में दलित विमर्श के रूप में परिलक्षित है। 1980 के बाद साहित्य में यह प्रवृत्ति मराठी के प्रभाव के कारण आई। आधुनिक संचार प्रणाली एवं मुद्रण तकनीकी के बावजूद 20-25 वर्ष पहले ही दलित साहित्य की ओर हिन्दी लेखकों का ध्यान गया। दलित विमर्श की अवधारणा विगत 10-15 वर्षों में ही हिन्दी में बहस के केन्द्र में आई हैं। राजेन्द्र यादव ने दलित विमर्श पर बहुत लेख छापे। इस विमर्श के लिए आत्मकथा की विधा का बड़े पैमाने पर उपयोग हुआ है। डॉ. भीमराव अम्बेडकर की परंपरा आगे बढ़ते हुए (यद्यपि वर्तमान स्वरूप में नहीं) प्रेमचन्द के साहित्य में देखी जा सकती है। प्रेमचन्द ने पिछड़ी जातियों एवं आदिवासी जातियों को भी इसमें शामिल किया।

आज हिन्दी साहित्य के प्रखर रूप में दलित विमर्श एवं आदिवासी विमर्श देखे जा सकते हैं।

श्योराज सिंह बेचैन की आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर एवं दलित विमर्श का डंका पीटने वालों में डॉ धर्मवीर का साहित्य एवं आत्मकथा 'मेरी पत्नी और भेड़िया' उल्लेखनीय है। दलित विमर्श भी दो विचारधाराओं में विभाजित है। एक उपनिवेशक की संस्कृति और विचारधारा से सहमति और स्वीकृति का भाव तथा दूसरे उसके विरुद्ध विद्रोह और प्रतिरोध की चेतना। इसके अतिरिक्त ग्रामीण तथा कृषि संबंधी विषयों पर केन्द्रित रचनाएं ज्यादा मिलती है। यह साहित्य वनवासियों भूमिहीन मज़दूरों, मछुआरों आदि से संबंधित है। दलित विमर्श के साथ-साथ आज के साहित्य में आदिवासी विमर्श संबंधी नए प्रश्नों को भी देखा जा सकता है। विगत दो-तीन दशकों में आदिवासियों का जीवन हिन्दी साहित्य में अत्यंत यथार्थता के साथ अंकित हुआ है। आदिवासियों के शोषण, पीड़ा, अभाव उपेक्षा को अभिव्यक्ति मिली है। राजेन्द्र अवस्थी का 'जंगल के फूल' मैत्रेयी पुष्पा का 'अल्मा कबूतरी' राकेश वत्स का 'जंगल का आसपास' 'कगार की आग' एवं रमणिका गुप्ता के साहित्य में आदिवासी जीवन-चिंतन है। वस्तुतः आदिवासी विमर्श अभी वर्तमान काल की उपज है। यह चिंतन का ही नहीं चिंता का भी विषय है कि उन्नति के चरमशिखर पर पहुँचकर भी हमारे देश का मूल निवासी जैसा और जहाँ था वैसा और वहीं है। हिन्दी साहित्य में इसके समाधान के बीज बोए जा चुके हैं बस आदिवासियों की जागृति एवं सरकार के प्रयासों से उस बीज अंकुरित एवं पल्लवित होने भर की देर है।

दलित विमर्श की एक महत्वपूर्ण समस्या है कि दलित साहित्य किसे माना जाए? इस विषयपर दो विचार समानांतर चलती है। पहली मानती है कि केवल दलित साहित्यकारों द्वारा लिखा गया साहित्य ही इस श्रेणी में आता है, जबकि दूसरा वर्ग मानता है कि अन्य लेखकों द्वारा दलितों पर लिखा गया साहित्य भी दलित साहित्य है। डॉ शिवकुमार मिश्र इसका समर्थन करते हुए कहते हैं कि संभव है ऐसी रचना (जिसके लेखक दलितों से इतर हों) दलित लेखकों के अपने तर्कों और सोच के दायरे में पूरी तरह न अटकी हो किन्तु उसे दलितों की पक्षधर या मित्र रचना के रूप में तो स्वीकार किया ही जा सकता है।

बदलते भारत की तस्वीर में निरन्तर आगे बढ़ती हुई नारी एवं नारीवाद भी आज के केन्द्रीय प्रश्न हैं। अब नारी का हमारे समाज में वह रूप नहीं है जो वर्षों पहले था। उसकी सोच-समझ का दायरा बड़ी तेजी से बदला है। यही बदलाव -'स्त्री-विमर्श' का केन्द्र बिन्दु है। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध समाज का महत्वपूर्ण सम्बन्ध है यदि ध्यान से देखें तो ज्ञात होगा कि बहुत काल से स्त्री की स्थिति समाज का विकास नापने के लिए मापदण्ड रही है।

अतः कहना न होगा कि भारतीय समाज में नारी विमर्श ने एक नई बहस छेड़ दी है। वस्तुतः पितृसतात्मक समाज को यह बर्दाश्त नहीं कि नारी उसके बराबर चले या उससे आगे निकले। पिछले 10-15 वर्षों में भारत में महिलाओं के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया है। 1975 में महिला दशक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मना जिसमें तीसरी दुनिया के देशों के विकास में औरतों की अनिवार्य और अंतरंग भूमिका पर जोर दिया गया। इन इस वर्षों में महिला मुक्ति के तमाम प्रश्न उठे। आयोग बने, कानून बदले और नए बने। जिसके परिणाम स्वरूप एक ख़ास लेखिका से थोड़ी भिन्न है। इस दृष्टि से समाज में बदलाव के अनेक स्तर देखे जा सकते हैं। जो लोग 'फेमिनिज़्म' को पाश्चात्य दर्शन कहते हैं यहाँ उनके लिए एक ठोस भारतीय यथार्थ से सबक कराना अनिवार्य हो जाता है। आज के

भूमण्डीय युग में जब देशों और राष्ट्रों की गोपनीयता और निजता चारों तरफ से खुली हुई नज़र आती है तब कोई नयी चीज या विचार नकल या चयन नहीं होता, वातावरण की तरह होता है। स्त्री का समाज के केन्द्र में आना और किसी हद तक विचार के केन्द्र में आना हमारे आर्थिक-सामाजिक विकास का परिणाम है।

आज महिलाओं के श्रम की पहचान स्थापित होने लगी है। जनंसचार, पत्रकारिता, शिक्षा, तकनीकी तथा व्यापार क्षेत्र में शिक्षित महिलाओं ने एक महत्त्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज की है। तेजी से बढ़ते हुए जनसंचार माध्यमों के द्वारा स्त्री के दुख-दर्द उजागर हुए तथा उनके अधिकारों के प्राप्ति उन्हें जागरूक किया गया। वास्तव में नया स्त्रीवादी साहित्य इस नए वातावरण का ही हिस्सा है। स्त्री अस्मिता के दृश्यमान हो उठने के पीछे विश्व स्तर पर उत्तर औद्योगिक यथार्थ का योगदान है। जिससे नई औद्योगिक सभ्यता का जन्म हुआ और स्थापित जीवन मूल्यों में बदलाव आया। इस सदंर्भ में स्त्री विमर्श एक उत्तर आधुनिक प्रश्न है। उत्तर आधुनिक हिन्दी स्थितियों ने पुरूष केन्द्रों को व्यर्थ कर दिया तथा स्त्रावादी साहित्य के द्वारा स्त्री को केन्द्रित किया। हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श आज चरम पर है। प्रभा खेतान का 'छिन्नमस्ता' सुरेन्द्रवर्मा का 'मुझे चाँद चाहिए' एवं 'कठगुलाब', 'आवाँ', 'चाक', 'विजन', 'शेष कादम्बरी' के साथ-साथ 'काला पानी' एवं 'रमणिका' परिलक्षित है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि पुरुष लेखकों द्वारा स्त्री विमर्श पर लिखा गया साहित्य भी इसी श्रेणी में आता है। पर यह विवाद का विषय है। यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। कि स्त्री विमर्श ने बदलते भारत में स्वयं को स्थापित करके स्त्री को केन्द्र में लाने का कुछ प्रयास अवश्य किया है। किन्तु अभी भी हिन्दी साहित्य में स्त्री केन्द्र बनना है। भाषा में वह केन्द्र अभी आना है, विचारों की विविध श्रेणियों में उसका साक्षात्कार अभी होना है। तकनीकी क्रान्ति और उतर आधुनिक भारतीय समाज एवं अवस्थाओं ने लिंग भेद के सामने अनेक प्रश्न खड़े कर दिए हैं जो विश्व के स्त्री लेखन के एजेंडे पर आ रहें हैं। हिन्दी में ये आने हैं। इन प्रश्नों तथा शंकाओं का समाधान आने वाले समय में तीसरी दुनिया के देशों के विकास के प्रश्नों एवं तकनीकी उत्तर आधुनिक जाटिलताओं में ढूँढा जा सकता है। वस्तुतः महिलाओं की मुक्ति यही कहीं छिपी है। परम्परा से चले आ रहे मर्दानेपन को आज के हिन्दी साहित्य में चुनौती दी जा सकती है। क्योंकि अभी स्त्री का बोलना बाकी है। यही हिन्दी साहित्य के स्त्री विमर्श की शंकाओं का समाधान है।

दरअसल बदलते हुए भारत में हिन्दी साहित्य के समक्ष उठते हुए नए प्रश्नों की एक लम्बी सूची है। इस संदर्भ में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आज के हिन्दी साहित्य का स्वरूप नितान्त भिन्न है। डॉ नामवर सिंह के शब्दों में 'अब साहित्य का शास्त्र स्वयं साहित्य से मुक्त होकर अपनी स्वायतता घोषित करने लगा है।' अब यह नहीं बताया जाता कि क्या साहित्य है और क्या साहित्य नहीं है। अब साहित्य जैसी चीज का अस्तित्व ही नहीं माना जा रहा यहाँ वहाँ सब कहीं 'टेकस्ट' है अर्थात् आज साहित्य को मात्र लेखन माना जाने लगा है। यहाँ हिन्दी साहित्य के समक्ष उठता नया प्रश्न साहित्य के अपने अस्तित्व का ही है। इसके समाधान हेतु क्षीर-नीर विवेकिनी बुद्धि से कार्य लेना होगा। तभी तय होगा कि दूधा क्या है और पानी क्या है। बदलते भारत के मानचित्र पर भूमण्डलीकरण की दस्तक कोई पुरानी बात नहीं है। जैसे ही भारत अपना दरवाजा मुफ्त बाज़ार के रूप में खोल देता है। भारत सब्जीमण्डी के रुप में तब्दील होना शुरू हो जाता है। जिसके

परणिामस्वरूप भारत की पूँजी ग्लोबल हो गयी। हिन्दी साहित्य के परिप्रेक्ष्य में यहां भूमण्डलीकरण को लेकर दो विचारधाराएँ मिलती है। एक ओर हिन्दी साहित्यकारों का वह वर्ग है जो समयप्रवाह अर्थात् भूमण्डलीकरण का पक्षधर है। उनके साहित्य में विश्व और भारत में आए इस परिवर्तन को देखा जा रहा है। उदय प्रकाश, मनोहरश्यामजोशी तथा युवा साहित्यकारों में कैलाश बनवासी की कहानी 'बाजार में रामधन' तथा एस. आर हरनोट की कहानी 'नदी गायब है' के साथ ही एक लम्बी सूची भूमण्डलीकरण विषयक साहित्य की है। तो दूसरी ओर दूसरी विचारधारा के साहित्य में इसका विरोध देखने को मिलता है। उनके अनुसार साहित्य पर भूमण्डलीकरण का प्रभाव सब कुछ नष्ट कर देगा। वे इसे एक 'भूत' एक हौवा एक 'बला' मानते हैं। वास्तव में भूमण्डलीकरण या ग्लोबललाइजेशन एक शुद्ध विचार है, प्रस्थापना परिवर्तनकारी प्रतिक्रिया है हिन्दी में चलने वाली तमाम साहित्यिक, राजनीतिक, आर्थिक बहसों में जाने-अनजाने आता-जाता है। यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या भूमण्डलीकरण को साहित्य में आत्मसात कर लेना चाहिए? इसका जवाब समय के साथ चलने मे ही है, चलना ही जीवन है। पर सावधानी से क्योंकि हर नई चीज या विचार बुरी ही हो यह जरूरी तो नहीं।

जीवन में नित नए परिवर्तन हो रहे हैं जिनकी प्रतिध्वनि साहित्य में भी सुनाई पड़ती है। यह उत्तर आधुनिकता का युग है अर्थात् शुद्ध पूँजीवादी युग। तकनीकी क्रान्ति ने पूँजीवाद को और टिकाऊ बनाया है तथा उत्पादन के साधनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया है। उसने विश्व बाजार् का विस्तार किया है और बाज़ार का प्रभाव सीधे-सीधे हिन्दी साहित्य पर भी पड़ा है। आज साहित्य बाज़ार की मांग के अनुरूप ढलता है पाठक उसके उपभोक्ता है। कहना न होगा कि बाज़ार पूरी तरह से साहित्य पर हावी है। अब साहित्य महान न होकर, मौलिक न होकर बाज़ार का एक समान है। बाज़ारवाद से ही उदारीकरण एवं साम्प्रदायिकता का जन्म हुआ है। ज्ञानेन्द्रपति की 'संशयात्मा' कविता तथा राजेश जोशी अरूण कमल एवं अशोक वाजपेयी के साथ-साथ श्री लाल शुक्ल का रागदरबारी प्रभाखेतान का 'आओ पेपे घर चेल' अलका सरावगी का 'कलिकथा : वाया बाईपास' एवं मैत्रेयी पुष्पा के 'विजन' में बाजारवाद का चित्रण है। वस्तुतः बाजार साम्राज्य के लिए होता है। और साम्राज्य बाजार के लिए। मुनाफा इनका अभिन्न अंग है। 'कितने पाकिस्तान' में कमलेश्वर ने कहा है 'पूँजीवादी प्रजातंत्रों को जीने के लिए मुनाफे के बाज़ारों की जरूरत है। और उपनिवेशवाद है और नयी सदी में इसका नाम है-बाजारवाद इस आधार पर कह सकते हैं कि बदलते भारत के साथ-साथ हिन्दी साहित्य भी ढलता गया है। प्रश्न है कि क्या भूमण्डलीकरण की कोख़ से जन्में बाज़ारवाद से हिन्दी साहित्य को बचाया जा सकता है? यहाँ कहना होगा कि बाज़ारवाद उपारवाद हम भाग तो नहीं सकते हाँ, बाज़ारवाद के नाम पर मूल्यों को टितांजलि भी दे सकते।

बदलते समय की गहरी छाप संस्कृति पर भी पड़ी है। साहित्य एवं कला को संस्कृति का संवाहक माना जाता है और जब साहित्य में बदलाव की प्रक्रिया दिखाई देने लगे तो संस्कृति उससे अछूति कैसे रह सकती है। यदि स्पष्ट रूप में कहा जाय तो आज संस्कृति उद्योग में परिणत हो चुकी है। और उसका व्यवसाय मूल्य प्रतिस्थापना नहीं वरन् मनोरंजन है। जिसमें Popular Culture के रूप में पोर्न साहित्य जगह बनाता जा रहा है। जिसकी सस्ते और फूहड मनोविनोद के अतिरिक्त और कोई उपयोगिता नहीं। आज संस्कृति और कला भीड़ की कला एवं संस्कृति है। यह उद्योग बनाम

संस्कृति बर्बरता, अर्थहीनता, सहमति, अब उदासी और यथार्थ से पलायन को बढ़ावा देते हुए पाश्चात्प संस्कृतिक मूल्यों को प्रसारित करती है। बाजार साहित्य और सच्चे लोकप्रिय साहित्य में अब कोई अंतर नहीं माना जा रहा। जिसके कारण सांस्कृतिक मूल्यों के साथ खिलवाड़ हो रही है। विद्वानों ने वर्तमान साहित्य पर पड़ते पूँजीवाद के दुष्प्रभाव से संस्कृति की रक्षा की बात कही है। यहाँ निश्चित रूप से कहना होगा कि पाश्चात्प संस्कृति की आंधी से प्रभावित आज के हिन्दी साहित्य से अपने सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा करना आवश्यक है। अन्यथा आज का सांस्कृतिक उद्योग हमारी अस्मिता को मिटाकर रख देगा।

जब संस्कृति मूल्य वाहिका न रहकर मनोरंजन का व्यवसाय बन जाएगा तो पश्चिमी संस्कृति एवं सभ्यता तथा संचारक्रान्ति केवल स्वरूप 'सेक्स' जैसा विषय खुले रूप में स्वीकार किया जाने लगेगा। आज हिन्दी साहित्य में सेक्स संबंधी घटनाओं प्रसंगों, समस्याओं और विचार चिंतन को लेकर बेबाक लेखन हो रहा है। जगदम्बा प्रसाद दीक्षित के मुरदा घर कृष्णा सोबती का जिंदगीनामा, मनोहरश्याम जोशी का कुरू-कुरू स्वाहा' तथा छिन्नमस्ता एवं कठगुलाब के अतिरिक्त सेक्स विषयक हिन्दी साहित्य की बाढ़ सी आ गई है। बदलते समय में हिन्दी साहित्य के समक्ष ये ऐसे चुनौतीपूर्ण प्रश्न है जिनके उत्तर एवं समाधान नितान्त आवश्यक है। यह ठीक है कि वर्तमान हिन्दी साहित्य में आज खुलापन आया है लेकिन प्रश्न उठता है कि क्या 'सेक्स' के नाम पर आज जो साहित्य परोसा जा रहा है, वह उचित है। यहाँ कहना होगा कि सेक्स चर्चा का विषय भी बने और खुलापन भी हो पर अपनी मर्यादा में रहकर।

विखंडन एवं विघटन बदलते भारतीय परिवेश में हिन्दी साहित्य के समक्ष कुछ और नए प्रश्न हैं। मानव में नकारात्मक एवं विध्वंसक प्रवृत्ति होती ही है। इन्हीं वृत्तियों के कारण समाज में विखंडन की प्रवृत्ति बढती जा रही है। आज हमारे जीवन एवं समाज अपमान, अप्रेम, अदृप्ति, अव्यवस्था, अनुशासनहीनता, उपेक्षा, स्पर्धा कुसंग तथा हिंसा जैसी प्रवृत्तियाँ निरन्तर बढते जा रहे हैं। अत: साहित्य पर भी इन नकारात्मक प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। भगवान सिंह का अपने-अपने राम ज्ञानी का कालाजल तथा 'आवां' सहित अनेक साहित्यकारों के साहित्य में इस प्रवृत्ति के विनाशकारी रूप को चित्रित किया गया है।

इसी तरह विघटन की प्रवृत्ति भी उत्तर आधुनिक युगीन साहित्य में दृष्टिगोचर होती है। वीरेन्द्रजैन का 'डूब' कृष्णासोबती का 'जिंदगी नामा' एवं असगर वजाहत का 'सातआसमान' जैसा साहित्य विघटनकारी प्रवृत्ति का प्रामाणिक दस्तावेज है।

यह सच है कि विखंडित और विघटित परिवेश ने विखंडित एवं विघटित साहित्य को जन्म दिया है जो एक नयी चुनौती है। चूंकि यह प्रवृत्ति मानसिक विकास को विनाश की ओर ले जाती है। अत: ऐसे साहित्यिक-सामाजिक परिवेश पर अंकुश लगाना सामाजिक राष्ट्रीय स्वास्थ्य के लिए कल्याणकारी होगा। आने वाली हिन्दी साहित्यकारों की पीढ़ी को इस चुनौती का सामना करते हुए समाधान भी करना होगा।

उपर्युक्त प्रश्नों के अतिरिक्त आज के हिन्दी साहित्य के समक्ष असंख्य और नए प्रश्न उठ रहे हैं जिनमें प्रमुख रूप से उत्तर यथार्थवाद (मुझे चांद चाहिए) बेहवाद (अशोक वाजपेयी का कविता

संग्रह थोड़ी सी जगह) उत्तरमानतावाद तथा पर्यावरण संबंधी कविताओं में केदारनाथ सिंह एवं प्रयाग शुक्ल की रचनाएं देखी जा सकती है। इसी संदर्भ में ग्लोबल वार्मिंग भारत एवं विश्व के सम्मुख एक बड़ी चिन्ता का विषय है। शशिप्रकाश की कविताएं पतझड़ का स्थापत्य एवं चन्द्रकांत देवताले की कविताएँ इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

निस्सन्देह बदलते हुए भारत में बहुत कुछ बदला है तो इस बदलाव की प्रक्रिया में भला हिन्दी साहित्य कैसे पीछे रहता। मानव की जितनी प्रवृत्तियाँ हैं उतने ही विचार और उतने ही प्रश्न है न जाने कितने अनसुलझे अनकहे प्रश्न अभी भी हिन्दी साहित्य में उठ रहें हैं। जब प्रश्न उठेंगें तो शंकाएं भी होगीं परन्तु इन शंकाओं का समाधान भी बदलते समय के साथ ही होता रहेगा, जरूरत है तो विचारों के दिवालियापन से बचने की क्योंकि सबसे ख़तरनाक है विचारों का मर जाना।

❑❑❑

हिन्दी का नया लेखन : मरती हुई रचनाधर्मिता का प्रश्न

डॉ. मंजु शर्मा
हिन्दी विभाग, भारती कॉलेज
(दिल्ली विश्वविद्यालय)

रचनात्मकता सर्वप्रथम आत्माभिव्यक्ति है, जिसका माध्यम शब्द, रंग, रेखायें आदि हो सकते हैं। अनुकूल परिस्थितियाँ, निरन्तर अभ्यास और लेखन की अनिवार्यता रचनात्मक लेखन के आधार है। रचनात्मक लेखन के लिए अनुभवधर्मिता एवं संवेदनशीलता के सकारात्मक दृष्टिकोण का होना आवश्यक है। साहित्य की रचनात्मकता तब आकार लेती है, जब रचनाकार नितान्त अकेले अस्तित्व को लेकर रचनारत होता है, लेकिन जैसे ही उसका पाठ या मूल्यांकन पाठकों के समूह के मध्य आता है, तो वह समष्टिगत अस्तित्व को जन्म देता है। किसी भी रचनाकार की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि उसके रचना संसार का व्यापक पाठकीय संसार हो। साथ ही सामाजिक सरोकारों में वह अपनी सार्थक मौजूदगी रखता हो।

बौद्धिकता और तथाकथित यथार्थ विलासिता के बहुस्तरीय आवरण को भेदकर साहित्य रचना के सत्व और मर्म तक पहुँच पाना साधारण पाठक के लिए असम्भव-सा होता जा रहा है। दिग्भ्रमित करने वाली परिस्थितियों के गहन अंधकार में वर्तमान साहित्य लेखन-पठन और उसके प्रति रुचि अस्ताचल में शेष रह गयी सूरज की लालिमा के समान प्रतीत होती है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हिन्दी साहित्य की वर्तमान स्थिति के विषय में चिंतनीय विभिन्न संगोष्ठियाँ हैं, जिनमें नये लेखन को लेकर 'मरती हुई रचनाधर्मिता' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जा रहा है।

साहित्य रचना धर्मिता उस 'स्लेट' के समान है जिस पर जगह की कोई कमी नहीं। पुराने असंख्य साहित्यकारों द्वारा लिखे जाने के बाद भी नए रचनाकारों के लिए पर्याप्त स्थान है। साथ ही एक बार जो लिख दिया गया वह कभी मिटाया नहीं जा सकता अर्थात् आप अपना जो भी जितना भी लिखें पर दूसरों का लिखा मिटा नहीं सकते। फिर भी हिन्दी साहित्य की रचनाधर्मिता पर प्रश्न चिह्न लग रहा है। कुछ प्रतिपक्षियों द्वारा यह तर्क दिया जा सकता है कि साहित्य रचना की प्रतिभा जन्मजात होती है, किन्तु काव्यशास्त्रियों द्वारा काव्य प्रतिभाओं का विवेचन करते हुए प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास का उल्लेख किया गया है। साथ ही स्पष्ट किया गया है कि व्यक्ति की जन्मजात प्रतिभा भी अध्ययन और अभ्यास द्वारा परिपक्वता को प्राप्त होती है। निराला का भी मानना है कि 'काव्य के अध्ययन से कवि संस्कार पैदा होते हैं – यहीं कवि बनाया जाता है।' अर्थात् कवि पैदा होता है ऐसा विचार कर हमें साहित्य सृजन और पठन से विरत नहीं होना चाहिए। परन्तु जब साहित्य सृजन-कर्ता साहित्य अध्ययन में रुचि ही नहीं रख पा रहा हो, तब फिर सृजन प्रतिभा का विकास भी कैसे हो?

प्रश्न उठता है कि रचनाकार हिन्दी साहित्य के पठन और सृजन से विमुख हो रहा है क्यो? कारण स्पष्ट है – जीवनचर्या की व्यस्तता और संघर्ष। गाँव अथवा छोटे शहर का व्यक्ति अभिरुचि होते हुए भी इसलिए नहीं पढ़ पाता क्योंकि उसे श्रेष्ठ और समकालीन साहित्य समय पर या तो उपलब्ध नहीं हो पाता अथवा मिलता भी है तो काफी समय, श्रम और धन की अपव्ययता के बाद। दूसरी ओर महानगरों में जहाँ यह सुविधा सुगमता से उपलब्ध है, वहाँ व्यक्ति समयाभाव और दिनभर के संघर्ष के बाद चाहते हुए भी नहीं पढ़ पाता है फिर रचनाधर्मिता के लिए तो और भी बड़ा संकट है। वर्तमान समाज व्यवस्था में व्यक्ति सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक आदि विभिन्न रूपों से इतना उलझा हुआ है कि वह कल्पना लोक में विचरण करने का अवसर ही नहीं पा पाता। वह पूर्णतः यथार्थवादी, बुद्धिवादी, कठोर एवं हृदयहीन बनता जा रहा है। जबकि साहित्य-सृजन के लिए काल्पनिक, भावात्मक, सरस और सहृदय होना नितान्त आवश्यक है। मानव आज मशीन बन गया है और मशीन काम कर सकती है, विचार नहीं कर सकती तथा बिना भाव और विचार के साहित्य सृजन हो ही नहीं सकता।

हिन्दी साहित्य के रचनाकारों और पाठकों में आयी कमी के लिए बहुत सीमा तक मीडिया भी जिम्मेदार है। जहाँ एक ओर प्रिंट मीडिया मात्र घटनाओं का खबरिया चैनल बन कर रह गया है अथवा सस्ता। यहाँ तक कि अश्लील साहित्य भी बेझिझक प्रस्तुत कर रहा है, वहीं दूसरी ओर इलैक्ट्रॉनिक मीडिया दिन-प्रतिदिन लुभावने और आर्थिक उपलब्धि के केन्द्र बनते जा रहे हैं। वह हिन्दी साहित्य रचना जगत के लिए ऐसा विषैला वायरस है, जिसने हमारी सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था को, हमारे बहुमूल्य समय को, साहित्यिक अभिरुचि एवं सृजन क्षमता को प्रभावित कर रखा है।

वस्तुतः लोकतंत्र की आँखे माने जाने वाले प्रिंट मीडिया और इलैक्ट्रॉनिक मीडिया दोनों क्षेत्रों में काम करने वाला व्यक्ति पत्रकार लेखक भी होता है और रचनाकार भी। समस्त पत्रकारिता साहित्य की एक सशक्त विधा है। श्रेष्ठ पत्रकारिता में साहित्यिक गुण विद्यमान रहते हैं। अच्छा पत्रकार अच्छा साहित्यकार भी होता ही है। अज्ञेय, धर्मवीर भारती, कमलेश्वर, राजेन्द्र अवस्थी, कन्हैयालाल नन्दन, मृणाल पाण्डे आदि ऐसे साहित्यकार हैं जिन्होंने दोनों क्षेत्रों में सफलता और ख्याति अर्जित की।

हमारा बुद्धिजीवी वर्ग यद्यपि इस दिशा में प्रयत्नरत है कि येन-केन-प्रकारेण पुराने लेखन को पढ़ने और नव लेखन के लिए युवा पीढ़ी को प्रोत्साहित करे। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण से दिल्ली विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में 'रचनात्मक लेखन' वैकल्पिक प्रश्न पत्र के रूप में प्रारम्भ किया गया था, किन्तु उसकी सफलता-असफलता हम सभी से छिपी नहीं है। महाविद्यालयों में या तो शिक्षक-विद्यार्थियों द्वारा यह विकल्प चयन ही नहीं किया गया है और यदि कहीं चयनित हुआ भी तो गणनात्मकता और गुणात्मकता दोनों ही दृष्टियों से ग्राफ नीचे ही रहा है। कारण स्पष्ट है कि जहाँ विद्यार्थी अन्य प्रश्न पत्रों की तैयारी में अधिक अंक पाने के लिए संघर्षरत हैं, वहाँ अपनी प्रतिभा विकास और साहित्यिक पठन-सृजन के लिए उसके पास पर्याप्त अवकाश ही नहीं रहता।

हिन्दी साहित्य में नवलेखन के प्रति रचनाधर्मिता के मृतप्राय हो जाने का अन्य प्रमुख कारण बाजारवाद का होना भी है। आज प्रारम्भ से ही व्यक्ति उस शिक्षा को प्राप्त करना चाहता है जो रोजगारोन्मुख हो, जिसकी बाज़ार में उपयोगिता अधिक हो। आज 'जस-जस सुरसा रूप बढ़ावा' की

तरह बढ़ते टी.वी. चैनलों, समाचार-पत्रों आदि के आकर्षण और रोजगार मिलने की लालसा के कारण ही विद्यार्थी वर्ग मीडिया पठन-पाठन की ओर खिंचा चला जा रहा है। बिना यह सोचे-विचारे की एक दिन आएगा जब अधिकता के कारण यहाँ भी असंतोष ही मिलेगा।

श्रेष्ठ नवलेखन के लिए हमारे विचारों और अनुभवों में भी श्रेष्ठता, सात्विकता का समावेश होना आवश्यक है, क्योंकि किसी भी रचना के सृजन द्वारा ही व्यक्ति की अनुभूतियाँ अभिव्यक्ति पाती हैं। आज हम सत्यं शिवं सुन्दरं जैसे शाश्वत मूल्यों को लगभग प्रत्येक क्षेत्र में भूलते से जा रहे हैं। नए यथार्थवादी और बाजारवादी समय में साहित्यिक गतिविधि भी मानों एक बाज़ार है, जिसमें लेखन ही नहीं लोग भी खरीदे और बेचे जाते हैं। आज वही लेखक ऊंचा और बड़ा है जो दूसरों से ज्यादा बिकता है और ऊंचे दामों में बिकता है। उसने अपनी पुस्तक में क्या लिखा, कैसा लिखा, किस उद्देश्य से लिखा – यह महत्त्वपूर्ण नहीं वरन् महत्त्वपूर्ण यह है कि उसकी किताब की कितनी अधिक प्रतियाँ बिकीं, उसे कितनी अधिक रॉयल्टी मिली, उस किताब पर उसे कितने अधिक पुरस्कार मिले आदि। साहित्य में पुराने रचनाकारों और नए रचनाकारों के मध्य नए विचार, उद्देश्य और लेखन शैलियों में एक स्वस्थ प्रतिस्पर्धा चलती है और चलती रहनी चाहिए। इससे साहित्य समृद्ध होता है, विकास को प्राप्त होता है। लेकिन बाजारवाद कलात्मक या विचारपूर्ण स्वस्थ प्रतिस्पर्धा के स्थान पर वर्ण-जाति, लिंग, क्षेत्र, सम्प्रदाय आदि के आधार पर परस्पर वैमनव्य उत्पन्न करता है।

हिन्दी साहित्य के जगत के सभी बुद्धिजीवियों, साहित्य प्रेमियों को समय रहते सचेत होने की आवश्यकता है अन्यथा न केवल हिन्दी भाषा वरन् हिन्दी साहित्य के पठन-पाठन, चिंतन-सृजन के प्रति बढ़ती उदासीनता हिन्दी-दुर्दशा के लिए उत्तरदायी होगी। हिन्दी में नया लेखन करने वाले रचनाधर्मी साहित्यकारों को प्रोत्साहित करना होगा। निरन्तर पठन एवं अभ्यास से अभिव्यक्ति में सुगड़ता लाने का प्रयास करना होगा। चिंतन क्षमता और विचारों के साथ-साथ लेखन शैली को परिपक्वता देने हेतु सूक्तियों का संग्रहण, प्रभावी व्यक्ति, घटना, प्रकृति आदि से सम्बन्ध स्थापन, नित्य-प्रति नवीन अनुभवों का संग्रहण आदि प्रयास करने होंगे। हमारी हिन्दी साहित्य नव-लेखन की रचनाधर्मिता अभी मरी नहीं है, मरती हुयी-सी है, जिसे जीवनदान देने का महत्त्वपूर्ण कार्य हम हिन्दी साहित्य प्रेमियों को ही करना होगा, न कि मूकदर्शक बनकर रचनाधर्मिता के अवसान को देखते हुए किंकर्तव्यविमूढ़ बने रहना होगा।

❑❑❑

IMPACT OF GLOBAL FINANCIAL CRISISON INDIAN ECONOMY

Jai Shankar Sharma,
Deptt. of Commerce, PGDAV College (Eve.)

The entire world economy is suffering now from economic meltdown. Both developed and developing countries are equally affected. The ongoing financial crisis is characterized by contracted liquidity in global credit markets and banking systems triggered by the failure of mortgage companies, investment firms and government sponsored enterprises which had invested heavily in subprime mortgages. The crisis, which has roots in the closing years of the 20th century but has become more apparent throughout 2007 and 2008, has passed through various stages exposing pervasive weaknesses in the global financial system and regulatory framework The global crisis began with the bursting of the United States housing bubble. It is known as sub prime crisis. There is high default rates on "subprime" and adjustable rate mortgages (ARM), beginning in approximately 2005–2006. For a number of years prior to that, declining lending standards, an increase in loan incentives such as easy initial terms, and a long-term trend of rising housing prices had encouraged borrowers to assume difficult mortgages in the belief they would be able to quickly refinance at more favorable terms.

However, once interest rates began to rise and housing prices started to drop moderately in 2006–2007 in many parts of the U.S., refinancing became more difficult. Defaults and foreclosure activity increased dramatically. Foreclosures accelerated in the United States in late 2006 and triggered a global financial crisis through 2007 and 2008.

The current crisis is not an accident but part of the structural deficiency. It is the tip of the iceberg. The crisis is not confined to America although it originated from US. It is not caused by Subprime crisis, but triggered by it. Many countries like Iceland, Spain, German, Europe, Russia, Japan are suffering. Major American banks faced loss of $435 billion. Stock market of many countries crashed. It resulted in downward pressure on economic growth of many countries. Business/investment activity and consumer spending across the countries has declined . Individuals/institutions holding MBOs/CDOs faced significant loss. Borrowers are unable /unwilling to repay. They vacate their house, lose their job and house.

The present credit crisis is no more a domestic problems of US. It has affected many countries. India and china and other emerging market economies (EMEs) are vulnerable and victims of global downturn. Indian miraculous growth is suffering from several fronts. The foreign exchange market of Indian is dwindling .The stock market of different countries including India is shrinking. Real estate market suffers from significant overheating. Infrastructure-sector is adversely affected. Investment climate has eroded. Flow of both FDI and FII are seriously affected. Export sector of India suffers from high volatility. The IT sector which is heavily dependent on with BPOs/KPOs has suffered in terms of layoffs loss of workloads for their employees.. Our Banking sector is affected: CRR,Repo rate ,CD ratio have fallen. Macro economic environment is really depressing, The over all business confidence in India has been eroded remarkably.

1.1 GENESIS OF THE CRISIS

The proximate cause of the current financial turbulence is attributed to the subprime mortgage sector in the USA. At a fundamental level, however, the crisis could be ascribed to the persistence of large global imbalances, which, in turn, were the outcome of long periods of excessively loose monetary policy in the

major advanced economies during the early part of this decade. Global imbalances have been manifested through a substantial increase in the current account deficit of the US mirrored by the substantial surplus in Asia, particularly in China, and in oil exporting countries in the Middle East and Russia. These imbalances in the current account are often seen as the consequence of the relative inflexibility of the currency regimes in China and some other EMEs. According to Stiglitz (2009), global macroeconomic imbalances were the major underlying cause of the crisis. These saving-investment imbalances and consequent huge

cross-border financial flows put great stress on the financial intermediation process. The global imbalances interacted with the flaws in financial markets and instruments to generate the specific features of the crisis. Such a view, however, offers only a partial analysis of the recent global economic environment. The role of monetary policy in the major advanced economies, particularly that in the United States, over the same time period needs to be analysed for a more rigorous analysis.

1.2 ANATOMY OF THE CRISIS

The current ongoing global financial crisis has had its roots in the US. The sustained rise in asset prices, particularly house prices, on the back of excessively accommodative monetary policy and lax lending standards during 2002-2006 coupled with financial innovations resulted in a large rise in mortgage credit to households, particularly low credit quality households 2. Most of these loans were with low margin money and with initial low teaser payments. Due to the ¯originate and distribute model, most of these mortgages had been securitized. In combination with strong growth in complex credit derivatives and the use of credit ratings, the mortgages, inherently sub-prime, were bundled into a variety of tranches, including AAA tranches, and sold to a range of financial investors.

As inflation started creeping up beginning 2004, the US Federal Reserve started to withdraw monetary accommodation. With interest rates beginning to edge up, mortgage payments also started rising. Tight monetary policy contained aggregate demand and output, depressing housing prices. With low/negligible margin financing, there were greater incentives to default by the sub-prime borrowers. Defaults by such borrowers led to losses by financial institutions and investors alike. Although the loans were supposedly securitized and sold to the off balance sheet special institutional vehicles (SIVs), the losses were ultimately borne by the banks and the financial institutions wiping off a significant fraction of their capital. The theory and expectation behind the practice of securitisation and use of derivatives was the associated dispersal of risk to those who can best bear them. What happened in practice was that risk was parcelled out increasingly among banks and financial institutions, and got effectively even more concentrated. It is

interesting to note that the various stress tests conducted by the major banks and financial institutions prior to the crisis period had revealed that banks were wellcapitalised to deal with any shocks. Such stress tests, as it appears, were based on the very benign data of the period of the Great Moderation and did not properly capture and reflect the reality (Harvey, 2009).

The excessive leverage on the part of banks and the financial institutions (among themselves), the opacity of these transactions, the mounting losses and the windling net worth of major banks and financial institutions led to a breakdown of trust among banks. Given the growing financial globalization, banks and financial institutions in other major advanced economies, especially Europe, have also been adversely affected by losses and capital write-offs. Inter-bank money markets nearly froze and this was reflected in very high spreads in money markets. There was aggressive search for safety, which has been mirrored in:

i. Yield on 3-months Treasury bill decreased
ii. Libor has increased (indicates lack of confidence)
iii. Spread between libor and Treasury bill increased by 25%
(difficult for daily transaction)
iv. Yield on bonds –increased (less willing to lend to business)

1.3 SUBPRIME CRISIS

The Subprime crisis can be easily understood as non-prime crisis. It refers to lending of the banks on the basis of substandard mortgages. It stems from a fundamental change in the way mortgages are funded in US. Traditionally, banks have financed their mortgage lending through the deposits they receive from their customers. This has limited the amount of mortgage lending they could do. In recent years, banks have moved to a new model where they sell on the mortgages to the bond markets. This has made it much easier to fund additional borrowing, But it has also led to abuses as banks no longer have the incentive to check carefully the mortgages they issue. There are many agents, brokers, appraisers, and stakeholders in the new model of lending. In the new model the lender takes following four types of risks: 1.Credit risk , 2. Liquidity risk, 3. Asset price risk,

4. Counterparty risk

Chart-1: New Model of Mortgage –Lending

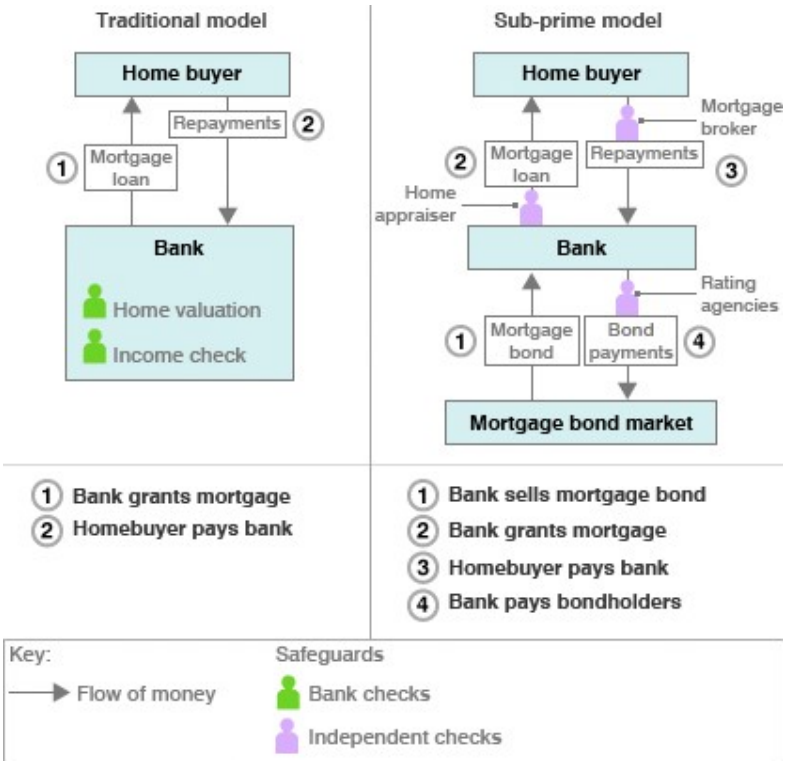

To summarise, excessively accommodative monetary policy for an extended period in the major advanced economies in the post dot com crash period sowed the seeds of the current global financial and economic crisis. Too low policy interest rates, especially the US, during the period 2002-04 boosted consumption and asset prices, and resulted in aggregate demand exceeding output, which was manifested in growing global imbalances. Too low short-term rates also encouraged aggressive search for yield, both domestically and globally, encouraged by financial engineering, heavy recourse to securitisation and lax regulation and supervision. The global search for yield was reflected in record high volume of capital flows.

1.4 IMPACT ON INDIAN FINANCIAL SECTOR

The Indian banks and financial system had only negligible direct exposure to the type of toxic assets that have contaminated the Western countries' banking system. Bank's credit quality remains of high quality. Although bank credit growth was quite high at around 30 per cent per annum during 2004-07, there was nosignificant relaxation of lending standards. Bank's loans to individuals for housing have been backed by prudent loan-to-value ratios. However, in view of the rapidcredit growth to certain sectors, the Reserve Bank had pre-emptively tightened prudential norms (provisioning requirements and risk weights) for these sectors in order to safeguard financial stability; provisioning norms for standard assets were also raised across the board except for agriculture and SMEs. These tightened provisioning norms and risk weights have now been rolled back in the wake of

slowdown in order to ensure flow of credit to the productive sectors of the economy. This ¯dynamic provisioning approach has facilitated adequate buffers within the banking system. Such ¯dynamic provisioning is now being advocated as general practice internationally. Therefore, unlike the banking system in the Western world, domestic banks have not recorded losses so far and there has been no need for any government bailout.

The balance sheets of our banks remain healthy and adequately capitalised. The CRAR of all scheduled commercial banks (SCBs) taken together was 13.0 per cent at end-March 2008, well-above the regulatory requirement of 9 per cent. No SCB has CRAR below 9 per cent. Of the 79 SCBs, 77 banks had CRAR above 10 per cent, while 2 banks had CRAR between 9 and 10 per cent. Asset quality of the domestic banks also remains satisfactory with net NPAs being only 1.0 per cent of net advances and 0.6 per cent of assets at end-March 2008.). The single-factor stress tests undertaken by the CFSA (Committee on Financial Sector Assessment) reveal that the banking system can withstand significant shocks arising from large potential changes in credit quality, interest rate and liquidity conditions. These stress tests for credit, market and liquidity risk show that Indian banks are generally resilient. 3 Growth in bank credit remained strong up to October 2008 but has decelerated since. The financial system is working normally and accordingly there has been no need for any enhancement of government guarantee for bank deposits or banks' other liabilities. In view of the strong balance sheets and the transparency in the operations, there is no mistrust between banks and the inter-bank money market has been working throughout the period normally .Thus, the Indian banking system is displaying none of the distresses that the Western banking system has exhibited since the start of the sub-prime crisis. The resilience of the Indian financial sector in the face of the worst global financial crisis since the 1930s can also be attributed to our approach to financial globalization. The key features of our approach have been reflected in a full, but gradual opening up of the current account but a more calibrated approach towards the opening up of the capital account and the financial sector. As far as the capital account is concerned, whereas foreign investment flows, especially direct investment inflows are encouraged, debt flows in the form of external commercial borrowings are generally subject to ceilings and some end-use restrictions. Macro ceilings have also been stipulated for portfolio investment in government securities and corporate bonds. Capital outflows have also been progressively liberalized. Along with the calibrated approach to opening of the capital account, we have also practised prudential regulation, particularly of banks to manage financial instability.

The financial sector, especially banks, is subject to prudential regulation, with respect to both liquidity and capital. A number of initiatives have been taken by the Reserve Bank over the past 5-6 years with a view to mitigating liquidity risks: (i) participation in the overnight unsecured overnight money market has been restricted to banks and primary dealers (PDs) and ceilings have been stipulated on their borrowing and lending operations in this market; (ii) prudential limits have been imposed on banks on their inter-bank liabilities in relation to their net worth; (iii) asset-liability management guidelines have been framed that take cognizance of both on and off balance sheet items; and (iv) a detailed policy on the provision of liquidity support to Special Purchase Vehicles (SPVs) has been outlined in the guidelines on securitization of standard

assets. With the objective of further strengthening capital requirements, the credit conversion factors, risk weights and provisioning requirements for specific off-balance sheet items including derivatives have been reviewed. Furthermore, in India, complex structures like synthetic securitisation have not been permitted so far. Introduction of such products, when found appropriate would be guided by the risk management capabilities of the system. Apart from normal prudential requirements on banks, additional prudential measures in respect of exposures to specific sectors such as real estate, housing loans to individuals and consumer credit, have been successively imposed, on the lines of dynamic provisioning. Furthermore, the regulation and supervision of Non-banking Finance Companies (NBFCs) was tightened by reducing regulatory arbitrage vis-à-vis the banking sector. The regulatory requirements are also higher in the case of deposit-taking NBFCs vis-à-vis the non-deposit-taking ones which has helped to contain leverage in this sector. Thus, a number of prudential measures were put in place incrementally over the past five years in order to maintain stability in the Indian financial system and these measures in conjunction with the overall cautious approach to financial and external sector liberalization have contributed to domestic macroeconomic and financial stability.

1.5 IMPACT ON INDIAN ECONOMY

The initial impact of the sub-prime crisis on the Indian economy was rather muted. Indeed, following the cuts in the US Fed Funds rate in August 2007, there was a massive jump in net capital inflows into the country. The Reserve Bank had to sterilise the liquidity impact of large foreign exchange purchases through a series of increases in the cash reserve ratio and issuances under the Market Stabilisation Scheme (MSS). With persistent inflationary pressures emanating both from strong domestic demand and elevated global commodity prices, policy rates were also raised. Monetary policy continued with pre-emptive tightening measures up to August 2008. The direct effect of the sub-prime crisis on Indian banks/financial sector was almost negligible because of limited exposure to complex derivatives and other prudential policies put in place by the Reserve Bank. The relatively lower presence of foreign banks in the Indian banking sector also minimized the direct impact on the domestic economy The larger presence of foreign banks can increase the vulnerability of the domestic economy to foreign shocks, as happened in Eastern European and Baltic countries. In view of significant liquidity and

capital shocks to the parent foreign bank, it can be forced to scale down its operations in the domestic economy, even as the fundamentals of the domestic economy remain robust. Thus, domestic bank credit supply can shrink during crisis episodes. For instance, in response to the stock and real estate market collapse of early 1990s, Japanese banks pulled back from foreign markets – including the United States – in order to reduce liabilities on their balance sheets and thereby meet capital adequacy ratio requirements. Econometric evidence shows a statistically significant relationship between international bank lending to developing countries and changes in global liquidity conditions, as measured by spreads of interbank interest rates over overnight index swap (OIS) rates and U.S. Treasury bill rates. A 10 basis-point increase in the spread between the London

Interbank Offered Rate (LIBOR) and the OIS sustained for a quarter, for example, is predicted to lead to a decline of up to 3 percent in international bank lending to developing countries (World Bank, 2008). Domestic financial sector of India has limited exposure.

However, following the Lehman failure, there was a sudden change in the external environment. As in the case of other major EMEs, there was a sell-off in domestic equity markets by portfolio investors reflecting deleveraging. Consequently, there were large capital outflows by portfolio investors during September-October 2008, with concomitant

pressures in the foreign exchange market. While foreign direct investment flows exhibited resilience, access to external commercial borrowings and trade credits was rendered somewhat difficult. On the

whole, net capital inflows during 2008- 09 were substantially lower than in 2007-08 and there was a depletion of reserves .

The contraction of capital flows and the sell-off in the domestic market adversely affected both external and domestic financing for the corporate sector. The sharp slowdown in demand in the major advanced economies is also having an adverse impact on our exports and industrial performance. On the positive side, the significant correction in international oil and other commodity prices has alleviated inflationary pressures as measured by wholesale price index. However, various measures of consumer prices remain at elevated levels on the back of continuing high inflation in food prices. Government finances, which had exhibited a noteworthy correction starting 2002-03, came under renewed pressure in 2008-09 on account of higher expenditure outgoes due to (i) higher international crude oil prices (up to September 2008) and the incomplete pass-through to domestic prices (ii) higher fertiliser prices and associated increase in fertilizer prices (iii) the Sixth Pay Commission award and (iv) debt waiver scheme. The

fiscal stimulus packages involving additional expenditures and tax cuts have put further stress on the fiscal health. Reflecting these factors, the Central Government‘s fiscal deficit more than doubled from 2.7 per cent of GDP in 2007- 08 to 6.0 per cent in 2008-09, reaching again the levels seen around the end of the 1990s. The revenue deficit at 4.4 per cent of GDP will be at its previous peak touched during 2001-02 and 2002-03. 4 Primary balance again turned into deficit in 2008-09, after recording surpluses during the preceding two years.

In view of the fiscal deterioration, the credit rating agency Standard and Poor‘s has changed its outlook on long-term sovereign credit rating from stable to negative, while reaffirming the ¯BBB- rating. If bonds issued to oil and fertilizer companies are taken into account, the various deficit indicators will be even higher. Moreover, in order to boost domestic demand, the Government has announced additional tax sops subsequent to the interim vote-on-account budget putting further pressure on fiscal position. Thus, while the slowdown in the domestic economy may call for fiscal stimulus, fiscal manoeuvrability is very limited. Reflecting the slowdown in external demand, and the consequences of reversal of capital flows, growth in industrial production decelerated to 2.8 per cent in 2008- 09 (April-February) from 8.8 per cent in the corresponding period of 2007-08. On the other hand, services sector activity has held up relatively well in 2008-09 so far (April-December) with growth of 9.7 per cent (10.5 per cent in the corresponding period of 2007-08). Services sector activity was buoyed up by acceleration in ¯community, social and personal services on the back of higher government expenditure. Overall, real GDP growth has slowed to 6.9 per cent in the first three quarters of 2008-09 from 9.0 per cent in the corresponding period of 2007-08. On the expenditure side, growth of private final consumption expenditure decelerated to 6.6 per cent from 8.3 per cent. On the other hand government final consumption expenditure has accelerated from 2.7 per cent to 13.3 per cent due to fiscal stimulus measures.

1. 6 CONCLUSIONS AND LESSONS

The ongoing global financial crisis can be largely attributed to extended periods of excessively loose monetary policy in the US and other countries. Very low interest rates during this period encouraged an aggressive search for yield and a substantial compression of risk-premia globally. Abundant liquidity in the advanced economies generated by the loose monetary policy found its way in the form of large capital flows to the emerging market economies. All these factors boosted asset and commodity prices, including oil, across the spectrum providing a boost to consumption and investment. Global imbalances were a manifestation of such an accommodative monetary policy and the concomitant boost in aggregate demand in the US outstripping domestic aggregate supply in the US. This period coincided with lax lending standards, inappropriate use of derivatives, credit ratings and financial engineering, and excessive leverage. As inflation

began to edge up reaching the highest levels since the 1970s, this necessitated monetary policy tightening. The housing prices started to witness some correction. Lax lending standards, excessive leverage and weaknesses of banks' risk models/stress testing were exposed and bank losses mounted wiping off capital of major financial institutions. The ongoing deleveraging in the advanced economies and the plunging consumer and business confidence have led to recession in the major advanced economies and large outflows of capital from the emerging economies.

Both of these channels are now slowing down economic growth in the emerging market economies. The influence of interest rates on the speculative component of asset prices is unclear from both a theoretical and empirical perspective .In the context of the current global financial crisis, with deleterious impact on growth and employment and significant fiscal costs, the issue of relationship between monetary policy and asset prices needs to be revisited. It can be argued that the output losses of a preemptive monetary action might have been lower than the costs that have materialised from a non-responsive monetary policy. At least, a tighter monetary policy can reduce the amplitude of asst price movements. As asset prices bubbles are typically associated with strong growth in bank credit to certain sectors such as real estate and stock markets, pre-emptive monetary actions can be reinforced by raising risk weights and provisioning norms for sectors witnessing very high credit growth. For both monetary and regulatory actions to be taken in tandem, it is important that both the functions rest with the central banks. In this context, the recent trend of bifurcation of monetary policy responsibility from regulatory responsibility appears to be unhelpful. On balance, it appears that pre-emptive and calibrated monetary and regulatory measures would be better than an inertial monetary policy response. Such an approach can help in mitigating the amplitude of the bubble in both the upswing and the downswing of the cycle and contribute to both macroeconomic and financial stability.

Finally, the current global financial crisis has again shown that the financial system is prone to excesses, given the high leverage of banks and other financial institutions. It is sufficiently clear that markets can fail. And market failures have huge costs. Within the financial system, banks are ¯special , whether locally- or foreign-owned, because they effectively act as trustees of public funds through their deposit taking activities and are the lynch pins of the payments systems. The speed with which a bank under a run collapses is incomparable with any other organisation. A failure of one bank can have a strong contagion on the rest of the banks, even if they are healthy. In this age of globalisation, as the current crisis has revealed, the lack of confidence in banks in one country can also have a contagion on banks in the rest of the world. It is because of this that many governments in emerging economies had to guarantee the deposits in their banking systems during the later part of 2008. Given the risks to financial stability, governments in advanced economies had to bail out their largest banks and financial institutions. The notion that markets will take care of weaknesses has once again been proven wrong. So far, the focus of banking regulation globally has been on capital adequacy. As this crisis has shown, liquidity issues are equally important . Given the complex inter-linkages between banks and non-banks it is necessary to avoid regulatory arbitrage. The regulatory regime in regard to NBFCs should be tightened. It is, therefore, important that banks and other financial institutions are well-regulated, while permitting them the necessary flexibility to expand and meet the financing needs of a growing economy. A host of other issues such as accounting, auditing and compensation should be given due attention in the aftermath of the global financial crisis. In view of the fast pace of technological and financial innovations, regulatory authorities would have to follow an approach that would have to be dynamic and adjust in response to changing economic environment. Financial reforms in India are warranted to protect it from its own excesses and redirect it to seek prosperity in the real economy rather than in speculation in the market. We need effective financial regulations to curb criminogenic environment created by the phony system.

Notes:

1 Taylor argues that it was made with purposeful and careful consideration by monetary policy authorities

2. On the contrary most of the crises over the past few decades have had their roots in developing and emerging countries, often resulting from abrupt reversals in capital flows, and from loose domestic monetary and fiscal policies.

3. Given the ongoing financial crisis and its likely impact on the Indian economy, the CFSA conducted stress tests for the end of September 2008. Under the worstcase scenario (150 per cent increase in gross NPAs), the overall capital adequacy position of the banking sector would have declined to 10.6 percent in September 2008 – still well-above the regulatory requirement of 9 per cent. Thus, even under the worst case scenario, CRAR remains comfortably above the regulatory minimum.

4. Net market borrowings during 2008-09 almost trebled from the budgeted Rs.1,13,000crore to Rs.3,29,649 in the revised estimates (actual borrowings were Rs.2,98,536crore as per Reserve Bank records) and are budgeted at Rs.3,08,647 crore (gross borrowings at Rs. 3,98,552 crore) in 2009-10.

REFERENCES

- Bhattacharya, S (2009) The Lending Puzzle, *The Financial Express*, 6th Mar.
- Bernanke, Ben (2009), ¯The Crisis and the Policy Response , Stamp Lecture at London School of Economics, January 13. Available at http:/ /www .federalreserve.gov/newsevents/speech/bernanke20090113a.htm
- Brunnermeier, M K (2009) Deciphering the 2007-8 Liquidity and Credit Crunch, *Journal of Economics Perspectives,*Vol.23(1):77-100
- Group of Thirty (2009), ¯Financial Reform: A Framework for Financial Stability (Chairman: Paul A. Volcker), Washington D.C.
- Elliot, Douglas (2009) *Guaranteeing Toxic assets: Choosing among Options,* Washington: The Brookings Institutions
- Fama, E. F. (1970). Efficient Capital Markets: A Review of Theory and Empirical Work.*The Journal of Finance* , Vol.25 :383-417.
- Geneva Report (2009), ¯The Fundamental Principles of Financial Regulation, Geneva Reports on the World Economy 11 (by Markus Brunnermeier, Andrew Crocket, Charles Goodhart, Avinash D. Persaud and Hyun Shin).
- G-20 (2009), ¯Working Group on Enhancing Sound Regulation and Strengthening
- Transparency (Co-Chairs: Tiff Macklem and Rakesh Mohan).
- Harvey, D (2006) *Limits to Capital,* London: Verso
- Haldane, Andrew (2009), ¯Why Banks Failed The Stress Test? , Bank of England.
- Krugman, Paul(2009) ¯Banking on The Brink , *International Herald Tribune*,24 Feb.
- Merton, RC (1974)On pricing of Corporate Debt: the risk Structure of Interest rates, *Journal of Finance*, Vol.2: 449-70
- Prasad, Eswar S and Raghuram G R (2008), Financial Reforms for India, *Finance and Development,* Sep.24-27
- Rao, Govinda M (2009)The 3rd Stimulus Package and Fiscal Conundrum, *Business Standard,* 3rd Mar.
- Stiglitz, Joseph(2008) Principles for a New Financial Architecture , The Commission of
- Taylor J B (2009).The Financial Crisis and the Policy Response: an Empirical Analysis of What Went Wrong, NBER Working Papers, January
- www.rbi.org.in

विचारधारा और वादों में विभाजित आज का हिन्दी साहित्य

मंदाकिनी मीना
सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
इन्द्रप्रस्थ महिला महाविद्यलाय
(दिल्ली विश्वविद्यालय)

साहित्य में विचारों का सदा ही महत्त्व रहा है। आधुनिक युग में वैचारिक टकराहटों और निष्कर्षों को साहित्य में उच्च स्थान दिलाने के लिए मनीषियों ने पर्याप्त प्रयत्न भी किए हैं। आज कला और साहित्य केवल सौन्दर्यबोध तथा भावना के ही विषय नहीं हैं, बल्कि वह विचारधारा के क्षेत्र की अभिवृद्धि हैं और व्यक्तिगतता से अधिक सामाजिक आशयों-सम्बन्धों को प्रतिबिम्बित करते हैं।

आधुनिक हिन्दी साहित्य में विचारधारात्मक सन्दर्भों में जब से चर्चा चली है तब से विचारधारा के 'ग्रहण' का विषय भी विवादों से मुक्त नहीं रहा। एक ओर जहाँ साहित्य में विचारधारा के ग्रहण को लेकर अनेक प्रश्न उठे वहाँ दूसरी ओर इसके ग्रहण की पद्धतियाँ व लाभ-हानि की स्थिति भी सामने आती रही। प्रत्येक रचना में लेखक की जीवन-दृष्टि भी समाहित होती है, सृजन के समय वह इस तथ्य के प्रति सचेत हो या न हो। उसकी अनुभवी दृष्टि के भीतर अपने परिवेशगत यथार्थ से ग्रहीत ध ारणाएं एवं विचार होते हैं। विचारधारा के ग्रहण की सही स्थिति तभी उपलब्ध होती है, जब रचनाकार अपने विचारों को अनुभूति की राह से गुजारे। रचनाकार को रचना क्षणों में इस ओर अत्याधिक सचेत रहना चाहिए कि कहीं वह दार्शनिक या विचारधारात्मक विचारों को प्रत्ययात्मक धरातल पर तो नहीं उतार रहा, क्योंकि यह क्षेत्र किसी दार्शनिक, चिन्तक या तर्कशास्त्री का है। मुक्तिबोध ने इस सम्बन्ध में लिखा है – "किसी भी दार्शनिक ज्ञान व्यवस्था से अनुप्रमाणित या आधारित जो भावदृष्टित होती है, उसकी अपनी सीमा और क्षमता भी रहती है। जब तक लेखक स्वयं उस बात से चेतन न हो, वह बहुत गड़बड़ कर सकता है।"

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि साहित्य सृजन में विचारधाराओं व वादों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान में भी तो ये विचारधाराएं व वाद हिन्दी साहित्य के किसी-न-किसी रूप में प्रभावित करते रहे हैं। हमारे आदिकालीन व मध्यकालीन साहित्य को नाथ, सिद्ध, सगुण, निर्गुण आदि विचारधाराओं ने प्रभावित किया है तो आधुनिक साहित्य को ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसोफिकल सोसायटी जैसी अनेक विचारधाराओं ने भी साहित्य पर अपना गहरा प्रभाव छोड़ा है। विवेकानन्द, अरविन्द, तिलक, सुभाष, गाँधी जैसे अनेक विचारकों व दार्शनिकों का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर पड़ा है।

विचारधाराओं के साथ ही काव्य रचना की विचारधाराएं भी साहित्य रचना को प्रभावित करती

रही हैं। हिन्दी में एक ओर छायावादी साहित्य रचा गया वहीं दूसरी ओर दूसरी ओर राष्ट्रवादी साहित्य तथा उसके समानान्तर प्रगतिवादी व प्रयोगवादी साहित्य की भी रचना हुई। आधुनिक युग में अनेक काव्य आन्दोलनों ने हिन्दी साहित्य की दिशा ही परिवर्तित कर दी। अपने समय और परिस्थितियों के आलोक में मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद, अस्तित्ववाद आदि पश्चिमी विचार आन्दोलनों ने जहाँ साहित्य को नए विषयों के साथ सम्बद्ध किया वहीं भारतीय सन्दर्भ में इन विचारधाराओं को साहित्य का प्रमुख आधार भी बनाया गया। जिस प्रकार मार्क्स ने आर्थिक समता का प्रतिपादन किया उसी के समानान्तर अस्तित्ववाद ने व्यक्ति की स्वतंत्रता को मूल्यवान ठहराया। मनोविश्लेषणवाद ने तो हिन्दी साहित्य को एक नई दिशा प्रदान की। उसने यह प्रमाणित किया कि साहित्य हृदय की नहीं मन की अभिव्यक्ति है। मन में संवेदनात्मक तत्व होते हैं जिनके कारण साहित्य की रचना होती है। इस प्रकार सृजन का संसार ही बदल गया।

समकालीन विचारधाराओं का भी साहित्य में व्यापक महत्त्व रहा है और मानववाद ने मानव के मूल्यों को साहित्य में स्थापित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। आज आधुनिकता एक व्यापक मानवीय संस्थान बन गया है। जिसमें रोमानीवाद, मार्क्सवाद, डार्विनवाद, मनोविश्लेषणवाद और अस्तित्ववाद आदि सभी शामिल होकर अपनी-अपनी भूमिका का निर्वाह कर रहे हैं। आधुनिकता में इन सभी विचारधाराओं को अलग कर पाना सम्भव नहीं है। आधुनिकता ने मिथकों को भी अपनी विचारभूमि में स्थान दिया है। माना जाता है कि आधुनिकता का मिथक एक ऐसा चेहरा है जो बिखरे हुए दर्पण में दिखाई पड़ता है। एक तरह का अजनबीपन आज के साहित्य में इसी कारण आया है। आधुनिक युग में साहित्य में नये वादों का आगमन भी हुआ ळे। इनमें बिम्बवाद, अतियथार्थवा, प्रतीकवाद आदि प्रमुख हैं। इन्होंने हिन्दी साहित्य और विश्व साहित्य को प्रभावित किया है। नई कविता के अनेक आन्दोलन इसके प्रमाण हैं।

साहित्य का विचार सौन्दर्य है और सौन्दर्य का विचार साहित्य है। सौन्दर्य ही साहित्य और विचारधारा को जोड़ता है। विचारधाराओं के बिना साहित्य की रचना नहीं होती पर यह भी सच है कि साहित्य विचारधाराओं का संकलन नहीं है उसका जीवन मनुष्य के भीतर साँस ले रहे जिस सौन्दर्यबोध पर निर्भर है वह सौन्दर्यबोध ही उसकी संवेदना का संसार है। यह मनुष्य को मनुष्य से जोड़ता है। साहित्य की रचना विचारधाराओं से प्रभावित होती है और विचारधाराएं भी साहित्य के रचनात्मक संसार की व्याख्याएं करती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि साहित्य और विचारधारा व वाद एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। पर साहित्य का जगत भावात्मकता से तथा विचारधाराओं का जगत बौद्धिकता से सम्बन्धित है। भावना व बौद्धिकता में समन्वय ही साहित्य के रचना जगत को सौन्दर्य के अनुभव जगत से सम्बद्ध करता है जिसकी वर्तमान यांत्रिक युग में नितान्त आवश्यकता है।

❑❑❑

विचारधारा और वादों में विभाजित आज का हिन्दी साहित्य

डॉ. सुधांशु भूषण तिवारी
हिन्दी विभाग
रामलाल आनन्द कॉलेज (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय

आज का साहित्य वादों और विचारधाराओं में विभाजित है। स्त्राीवादी, दलित जैसे साहित्य के नये रूप हमारे समय के यथार्थ बन चुके हैं। और भी कई धाराएँ आज सक्रिय हैं जिनकी संभावनाओं का विस्तार अभी उतना नहीं हुआ है कि वे 'वाद' या 'विचारधारा' का रूप ले सकें। परन्तु यदा-कदा उनकी अभिव्यक्ति दिख ही जाती है। इसे पूर्णत: विश्वास के साथ तो नहीं कहा जा सकता परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आज साहित्य में विचारधारा से जुड़ाव की प्रवृत्ति कहीं दूर तक दिखने लगी है। यह समाज में परिवर्तन को दर्शाता है। इसका एक कारण प्रजातांत्रिाक मूल्यों का विकास भी रहा है। ऐसा केवल भारत में ही नहीं हुआ है। यह पूरे विश्व में देखा जा सकता है। जातीयताओं का राष्ट्रीयताओं में विकास इस दौर का सच है। कार्ल ड्यूक ने यह दिखाया है कि नये राष्ट्रों का विकास इस सदी में जितना हुआ है उतना पहले कभी किसी सदी में नहीं हुआ है। यह प्रक्रिया आज और भी तेज हुई है। जातीय जागरण हमारे समय का सच है। इनमें से कुछ जातीयताएं तो राजनीतिक रूप से जागरूक होकर राष्ट्रीयताओं में परिवर्तित हो चुकी हैं तो कुछ अभी जातीय समूह की अवस्था में ही है। परन्तु उनके विकास की धारा अनवरत चल रही है। इसने समाज की संरचना को प्रभावित किया है। पाल ब्रास ने लिखा है कि कोई भी संरचनात्मक परिवर्तन अपने साथ विचारधारात्मक परिवर्तन लेकर आता है। अत: हमारे समाज में विचारधारात्मक परिवर्तन का होना स्वभाविक भी है। इसने साहित्य के स्वरूप को भी बदला है। यह कहना गलत नहीं होगा कि इसके चलते हमारे समय में साहित्य का समाज से जाने-अनजाने सम्बन्ध ही गहरा हुआ है।

नये सामाजिक संदर्भ ने जातीयताओं के विकास की भूमि तैयार की है। इसके चलते जातीयताएँ जातीय समूह में और फिर राष्ट्रीयताओं में भी परिवर्तित हुई हैं। इनकी अभिव्यक्ति साहित्य में भी हुई है। इसने समाज की नयी व्याख्या की है। इतिहास की समीक्षा की है। राजाराम भादू ने लिखा है कि 'दलित विमर्श का हिन्दू वर्णव्यवस्था से गहरा सम्बंध है।'[1] वर्णव्यस्था का जातिव्यवस्था के साथ किस प्रकार का सम्बन्ध है, यह अलग विश्लेषण का विषय हो सकता है। परन्तु आम आदमी के लिए इनमें अभेद है। यह व्यवस्था शोषण का कारण है। इस वर्चस्व ने जातीय अस्मिताओं की अभिव्यक्ति को बाधित किया है। तद्भव के इसी अंक में सुवीरा जायसवाल ने लिखा है कि 'जातिप्रथा की निरन्तरता के दो मुख्य कारक हैं-पहला स्त्री की अधीनता, उसके यौनत्व पर पितृतन्त्रात्मक नियंत्रण, जिससे इस प्रथा को निर्बाध नया जीवन मिलता रहता है। ..... जातिप्रथा की निरन्तरता का दूसरा कारण है वर्चस्व

की राजनीति में इसकी उपादेयता।'[2] अत: इनको तोड़ना आवश्यक है। इसके लिए जातीय अस्मिताओं का सृजन करना होगा। जागरूक होकर ही जातीयता अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करती है। राजाराम भादू ने शब्दों में कहें तो 'सवाल अंतत: दलित सैद्धांतिकी के दर्शन से जुड़ा है। इसका ध्येय दलितों को एक पृथक श्रेणी के रूप में स्थापित करना है जिसके कारण इस श्रेणी के सशक्त होने की आवश्यकता सामने आयी है।'[3] इसने साहित्य को नयी संवेदना दी है। समाज की वास्तविकता को साहित्य में स्थान दिया है। डा. तुलसीराम की आत्मकथा 'मुर्दहिया' का यह अंश इसका प्रमाण है। 'शुरुआत यदि दादा से ही करूं तो पिता जी के अनुसार उन्हें एक भूत ने लाठियों से पीट पीट कर मार डाला था। अपने पॉच भाइयों में पिता जी सबसे छोटे थे। घर में सभी का कहना था कि दादा जी जिनका नाम जूठन था, गांव से थोड़ा सा दूर झाडियों वाले टीले के पास छोटे से खेत में मटर की फसल को देर रात जानवरों से बचाने के उद्देश्य से गये थे।'[4] इन वाक्यों में अभिव्यक्त अंधविश्वास का सामाजिक आधर जिस अज्ञानता में छिपा हुआ है उसे भारतीय परंपरा के विश्लेषण के बिना नहीं समझा जा सकता।

नारीवादी आंदोलन ने समाज को नयी दिशा देने का कार्य किया है। भारत में अभी यह आंदोलन उस स्तर तक नहीं पहुॅचा है जितना कि फ्रांसीसी लेखिका केट मिलेट के 'सेक्सुअल पालिटिक्स' या फिर जुलिया क्रिस्तेवा आदि की रचनाओं को पढने के बाद वहॉ दिखता है। प्रभा खेतान ने जैसा कि लिखा है कि 'नारीवाद एक मुश्किल विचारधारा है। दुनिया के किसी भी समाज में औरत के लिए नारीवादी बनना आसान नहीं है। अपने बौद्धिक पाठ की जटिलता के कारण नहीं, हजारों साल से बन रहे स्त्री के निजी जीवन को बदलने के दुर्निवार आग्रह के कारण।'[5] परन्तु अपने आरंभ के साथ ही इस आंदोलन ने समाज की वर्चस्ववादी विचारधारा को चुनौती दी है।

इन आंदोलनों ने समाज में परिवर्तन की शुरूआत की है जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य में दिखती रही है। वैसे तो आधुनिक हिन्दी साहित्य अपने आरंभ से ही समाज से जुड़ाव के लिए प्रतिबद्ध दिखता रहा है। साहित्य को समाज से जोड़ने की आकांक्षा का ही परिणाम है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आदिकाल को वीरगाथाकाल कहना अधिक प्रासंगिक माना है। साहित्य को 'जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब' कहकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल[6] ने इसी आकांक्षा को दर्शाया है। उन्होंने लिखा है कि 'आदिकाल का नाम मैने 'वीरगाथा काल' रखा है। उक्त काल के भीतर दो प्रकार की रचनाएॅ मिलती हैं- अपभ्रंश की और देशभाषा (बोलचाल) की। अपभ्रंश की पुस्तकों में कई तो जैनों के धर्म-तत्व निरूपण संबंधी जो साहित्य की कोटि में नहीं आती और जिनका उल्लेख केवल यह दिखाने के लिए ही किया गया है कि अपभंश भाषा का व्यवहार कबसे हो रहा था।'[7] यहॉ महत्वपूर्ण यह है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने नामकरण का आधार इन पुस्तकों को नहीं बनाया। इसके विपरीत देशभाषा काव्य की जिन आठ और चार साहित्यिक पुस्तकों को आधार बनाकर उन्होंने नामकरण किया उनमें से अधिकतर अप्रमाणिक सिद्ध हुई हैं। उनमें से कुछ के अप्रमाणिक होने की चर्चा स्वयं आचार्य रामचंद्र ष्शुक्ल ने भी की थी। यह साहित्य के समाज से संबंध की स्वीकृति नहीं तो और क्या है? यदि साहित्य में समाज की चिंताओं को स्थान न मिले तो उस साहित्य का कोई अर्थ नहीं है। उसका कोई महत्व नहीं है।

रेने वेलेक और आस्टिन वारेन ने लिखा है कि ''साहित्य एक सामाजिक संस्था है, अपने माध्यम

के लिए भाषा का प्रयोग करते हुए एक सामाजिक उत्पादन है। प्रतीक, लय जैसे पारम्परिक साहित्यिक तत्व अपनी विशिष्ट प्रकृति में ही सामाजिक है। वे समझौता और मानदण्ड हैं जिनका उदय समाज में ही हो सकता था। ....साहित्य जीवन को दर्शाता है और जीवन कहीं दूर तक सामाजिक यथार्थ है यद्यपि प्राकृतिक संसार और व्यक्ति का आंतरिक या व्यक्तिगत संसार साहित्यिक अनुकृति का अंग रहा है।'[8] निसंदेह, साहित्य एक सामाजिक उत्पादन है। परन्तु व्यक्ति और समाज के बीच संतुलन अपेक्षित है। रेने वेलेक के संकेत यहाँ उचित जान पड़ते हैं। साहित्य और समाज का संबंध इसी द्वंद्व के बीच स्थित है। इसमें किसी भी एक पक्ष की अनदेखी करना साहित्य के लिए अच्छा नहीं है। दुर्भाग्य यह है कि विचारधारा के आग्रह के दबाव में इसकी अनदेखी होती रही है। इसकी अनदेखी करने वाले केवल रूपवादी नहीं रहे हैं। इनमें उनकी भी भूमिका महत्वपूर्ण है जो सामाजिक यथार्थ को चेतना का निर्धारक स्वीकार करते रहे हैं। संकेत मार्क्सवादियों की ओर है। कार्ल मार्क्स ने आधार और अधिरचना के अंत:संबंध की व्याख्या करते हुए साहित्य और समाज के बीच किसी भी प्रकार के सीधे संबंध को नकार दिया था। स्वयं मुक्तिबोध ने कला के तीन क्षण के अंतर्गत के द्वारा अपनी विचारधारा से दूर चले जाते हैं। यदि साहित्य और विचारधारा का संबंध सीधे-सीधे निकल जाता तो ऐसा नहीं होता।

लेकिन विचारधारा का प्रत्यक्ष आग्रह इतनी आसनी से समाप्त भी नहीं होता। डा. नगेन्द्र जहाँ 'कामायनी की व्यक्त कथा में आदिम पुरूष मनु और उसकी सहचरी आदिम नारी श्रद्धा के संयोग से मानव - सृष्टि के विकास का वर्णन'[9] देखते हैं तो मुक्तिबोध कामायनी की व्याख्या करते समय एक सीमा के बाद पूर्णत: अपनी विचारधारा के दबाव में दिखते हैं। 'श्रद्धावाद' उन्हे 'घनघोर व्यक्तिवाद' नजर आता है।[10] उसकी व्याख्या 'उस वाद के सिद्धांतो की व्याख्या' लगती है। यही कारण है कि उनका उद्देश्य 'इस व्याख्या के अन्तर्गत उस धारा के भाववादी-आदर्शवादी दृष्टिकोण को वास्तविकता की कसौटी पर कसकर, उस सिद्धांत-प्रणाली के भीतरी खोखलेपन की वास्तविकता का उद्घाटन' बन जाता है।[11] पूरा विश्लेषण इसी के आस-पास चलता रहता है। इसी आग्रह के चलते मुक्तिबोध के यहाँ श्रद्धा 'प्रसाद जी के सुपर-इगो' में बदल जाती है। इतना ही नहीं, उनकी दृष्टि में 'श्रद्धावादी दृष्टि से प्रसाद प्रसाद जी ने जो सभ्यता समीक्षा की है, वह अपनी प्राङ्मुखता के कारण' अवैज्ञानिक बन जाती है।[12] ऐसा नहीं है कि मुक्तिबोध को अपनी समीक्षा की सीमाओं का बोध नहीं है। उन्होंने लिखा है कि 'प्रसाद जी के काव्य- सामर्थ्य के संम्बंध में अन्य लेखकों ने बहुत कुछ लिखा है। जिन लोगों को कामायनी के सौन्दर्य की विवेचनात्मक जानकारी की जरूरत है, उन्हें वे समीक्षा-ग्रंथ अवश्य पढने चाहिए।'[13] परन्तु अपनी सीमाओं के बाहर निकलना बहुत कठिन होता है। उन्हें ज्ञात है कि 'भले ही इस तथ्य के प्रति हमारे समीक्षकगण नाक- भौं सिकोड़े, कहें कि यह विदेशी है विचारधारा है, पर यह नितांत सत्य है कि हमारा चरित्र वर्ग चरित्र होता है और हमारा दृष्टिकोण हमारे वर्ग-क्षेत्र में चल रहीं विचारधाराओं और भाव - परम्पराओं द्वारा विकसित होता है।'[14]

वर्ग की अवधारणा मार्क्सवादियो की देन है। आचार्य शुक्ल जब कविता की व्याख्या कर रहे थे तो उनपर वर्ग का आग्रह नहीं था। उन्होंने साहित्य को वर्गीय अभिप्राय से जोड़कर नहीं देखा। वहाँ साहित्य पूरे समाज से जुड़कर ही महान बन सकता था। उनके लिए 'कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोकसामान्य भावभूमि पर ले जाती'[15] है।

इसे दो रूपों में देखा जा सकता है। एक तो यह कि वाद या विचारधाराओं के दबाव में कई बार रचना का मूल उद्देश्य हाशिए पर धकेल दिया जाता है। इससे रचना का वास्तविक अर्थ बाधित हो जाया करता है। यह विचारधारा का नकारात्मक आग्रह है। परन्तु यदि अर्थ की विविधताओं और रचना की व्याख्या की विविध संभावनाओं के रूप में इसे देखें तो हम यह भी कह सकते हैं कि वाद और विचारधाराओं ने साहित्य की व्याख्या की सीमाओं को विस्तार दिया है। जायसी को सूफी कहा जाए या मूलतः कवि, इससे जायसी को फर्क भले न पड़ता हो, आज की साहित्येतिहासिक दृष्टि इससे अवश्य ही प्रभावित हुई है और इससे जायसी के काव्य के वास्तविक अर्थ को समझने में मदद भी मिली है। जायसी को सूफी स्वीकार कर लेने के कारण उनकी कविता का वास्तविक मूल्यांकन नहीं हो पाया है। विजयदेव नारायण साही ने लिखा है 'इस गलतफहमी के कारण न सिर्फ जायसी का वास्तविक कवि व्यक्तित्व, उनकी रचनात्मक प्रतिभा और एक हद तक उनकी अद्वितीय मौलिकता पर पर्दा पड़ गया है, बल्कि वे दुहरे अन्याय और उपेक्षा के शिकार भी हुए हैं।'[16] उनके समय में उनकी उपेक्षा इसलिए हुई क्योंकि वे किसी सूफी सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं थे तो बाद के दिनों में उनकी उपेक्षा इसलिए हुई क्योंकि उन्हें सूफी स्वीकार कर लिया गया। इसलिए उनकी घोषणा है कि 'एक अर्थ में जायसी हिन्दी के पहले विधिवत कवि हैं।'[17]

टेरी इगलटन ने लिखा है कि 'सभी सामाजिक जीवन किन्हीं अर्थों में सैद्धांतिक होता है।'[18] उसके सामाजिक व्यवहार के साथ-साथ उसके बोध का स्वरूप भी उसके सिद्धांतों के आधार पर निर्धारित होता है। साहित्यिक अभिव्यक्ति भी इससे अलग नहीं है। इस प्रकार, बोध और उसकी अभिव्यक्ति में मनुष्य की विचारधारा का महत्वपूर्ण योगदान होता है। मुक्तिबोध रचना प्रक्रिया के संदर्भ इसे ही कुछ दार्शनिक अंदाज में बदलते हुए 'ज्ञानात्मक संवेदन' और 'संवेदनात्मक ज्ञान' कहा करते थे। समाज निरन्तर परिवर्तित होता रहता है और तब, उससे जुड़े हुए मनुष्य का बदलना भी स्वाभाविक ही है। परन्तु यह बदलाव भी मनुष्य के सिद्धांतो के अनुरूप ही होता है। ऐसा भी नहीं है कि मनुष्य के सिद्धांतो में परिवर्तन नहीं होता। परन्तु यह सब सिद्धांत और समाज की वास्तविकताओं की सीमाओं के अनुरूप ही होता है। टेरी इगलटन ने ठीक ही लिखा है कि 'यदि मनुष्य का सभी प्रकार का अस्तित्व किन्हीं अर्थो में सैद्धांतिक है तब सिद्धांत निरन्तर चलने वाला कर्म है।[19] और तब, जीवन और समाज के प्रत्येक कदम पर उन सिद्धांतों का मूल्यांकन होना चाहिए। अनवरत समीक्षा का अभाव 'वाद' या सिद्धांत को जड़ बना देता है। ऐसा होने पर बोध का स्वरूप ही अवरूद्ध हो जाता है और तब, वह कुछ भी 'दूसरा' नहीं देखना चाहता। निश्चित तौर पर इसके खतरे होते हैं। नामवर सिंह की पुस्तक 'वाद विवाद संवाद' इसका प्रमाण है। इसके कुछ लेखों में यह स्पष्ट दिखता है कि यहॉ अशोक वाजपेयी की पत्रिका 'पूवग्रह' का मूल्यांकन का आधार उसका साहित्यिक योगदान न होकर अशोक वाजपेयी की पक्षधरता को बना दिया गया है। नामवर सिंह ने लिखा है कि 'समालोचना में जनतंत्र के आसन्न विनाश पर 'पूर्वग्रह' की यह चिंता देखकर रघुवीर सहाय की 'आपकी हॅसी' शीर्षक कविता याद आती है- खासतौर पर वह बंद-'लोकतंत्र का अंतिम क्षण है, कहकर आप हॅसे! बेशक यह हॅसी नहीं है। .... अशोक वाजपेयी के प्रारंभिक वक्तव्य से स्पष्ट है कि वे आज के राजनीतिक जनतंत्र के हिमायती नहीं हैं। तकलीफ उनकी यह है कि "साहित्य का तनतंत्र भी कमोवेश उसी जनतंत्र की प्रतिच्छवि बनकर रह गया है जो मूल्यों के अपसरण और प्रदूषण से रचा जा रहा है।" फिर भी उन्हें

राजनीति के इस भ्रष्ट जनतंत्र से कोई शिकायत नहीं है। शिकायत है तो आज की आलोचना से- विशेषत: उस आलोचना से ''जिसे इतिहास के वाहक होने का नैतिक दंभ और विश्वास'' है। स्पष्ट नाम नहीं लिया गया है, लेकिन संकेत स्पष्टत: मार्क्सवाद की ओर है।[20] कहने की आवश्यकता नहीं है कि उस समय के समाज में जातीय जागरण का स्वरूप आज से भिन्न था। वहॉ विरोध मार्क्सवाद और उसके विरोध में खड़ी विचारधाराओं के बीच था। जैसा कि नामवर सिंह ने लिखा है कि 'मार्क्सवादी आलोचना सक्रिय है और उसकी यह ''अत्यधिक सक्रियता ही 'पूर्वग्रह' की नींद हराम कर रही है।'[21] लेकिन आज समय बदल गया है। दलित और स्त्री अस्मिता से जुड़े विमर्श ने साहित्य के साथ- साथ उसकी आलोचना की दिशा भी बदल दी है। इस स्थिति में साहित्य के पुराने मानदण्डों पर पुनर्विचार का समय आ गया है। मुक्तिबोध ने लिखा था कि 'आज संस्कृति का नेतृत्व उच्च वर्गों के हाथ में है- जिनमें उच्च-मध्यवर्ग भी शामिल है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि यह परिस्थिति स्थायी रहे, अनिवार्यत: यह बदल सकती है। और, जब बदलेगी, तब इतनी तेजी से बदलेगी कि होश फाख्ता हो जायेंगे।'[22] आज का समय कला की स्वायत्तता की मांग का नहीं है। इसतरह की आकांक्षा रखने वालों के होश का फाख्ता होना स्वभाविक है। आज समय समाज की वास्तविकताओं को समझते हुए साहित्य के नये मानदण्डों को विकसित करने का है। मार्क्सवाद के ही प्रसंग में नामवर सिंह एक बात कही थी कि 'आलोचना की स्वायत्तता 'पूर्वग्रह' का नया नारा है। शुद्ध साहित्यिक आलोचना' जैसा पद पुराना पड़ गया है।[23] आज समय आ गया है कि इसे साहित्य की नयी धाराओं के साथ विश्लेषित किया जाए। नये अर्थो की संभावनाओं को तलाशा जाए। जैसा कि टेरी इगलटन ने लिखा है कि 'मनुष्य को अन्य जानवरों को अलगाने वाली चीज यह है कि वह अर्थ के संसार में विचरण करता है। दूसरे शब्दों में, वह एक भौतिक स्थान में रहने की बजाय एक संसार में रहता है।[24] इसी संसार में अर्थ का सृजन होता है। राजनीति के क्षेत्र में गठबंधन की राजनीति का हावी होना क्षेत्रीय अस्मिताओं के उत्थान की कहानी को कह ही रहा है। इसका साहित्य के क्षेत्र में भी स्वागत किया जाना चाहिए। महत्वपूर्ण यहॉ यह भी है कि स्वागत करते समय विवेक को बचाए रखने की आवश्यकता है। 'वाद' और 'विचारध राओं' का साहित्य में आगमन साहित्य की सीमाओं के अनुरूप ही होना चाहिए। एडोर्नो ने लिखा था कि साहित्य में कालजयी पन कला द्वारा समाज का प्रतिसिद्धांत उपस्थित करने के कारण आता है। और तब, आज के साहित्य में आज के समय की चेतना और उसका प्रतिसिद्धांत दिखना चाहिए। भारतीय साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल इसका प्रबल उदाहरण है। वह एकमात्र ऐसा काल है जिसने समाज के लगभग सभी वर्गों को अभिव्यक्ति का अवसर दिया है। उस काल की विशेषता जातीय जागरण को सांस्कृतिक जागरण में बदल देने की रही है। यह हमारे समय में भी अपेक्षित है।

संदर्भ सूची

1 तद्भव, दलित विशेष अंक, दलित सैद्धांतिकी के अंतर्विरोध, राजाराम भादू

2 तद्भव, दलित विशेष अंक, दलित अस्मिता और एजेंडा 'जाति विनाश' का, सुवीरा जायसवाल

3 तद्भव, दलित विशेष अंक, दलित सैद्धांतिकी के अंतर्विरोध, राजाराम भादू

4 तद्भव, अंक 16, मुर्दहिया, डा तुलसीराम

5 तद्भव, अंक 16, जुलाई 07 प्रभा खेतान

6 हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत 2056 पेज 1

7 हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, संवत 2056 प्रथम संस्करण का वक्तव्य पेज 5

8 रेने वेलेक एण्ड आस्टिन वारेन, थ्योरी ऑफ लिटरेचर, पेंग्विन बुक्स, 1949 पेज 94

9 कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, डा. नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1970, पेज 35

10 कामायनी, एक पुनर्विचार, मुक्तिबोध रचनावली, भाग-4, राजकमल पेपरबैक्स, पेज 283

11 कामायनी, एक पुनर्विचार, मुक्तिबोध रचनावली, भाग-4, राजकमल पेपरबैक्स, पेज 283

12 कामायनी, एक पुनर्विचार, मुक्तिबोध रचनावली, भाग-4, राजकमल पेपरबैक्स, पेज 316

13 कामायनी, एक पुनर्विचार, मुक्तिबोध रचनावली, भाग-4, राजकमल पेपरबैक्स, पेज 326

14 कामायनी, एक पुनर्विचार, मुक्तिबोध रचनावली, भाग-4, राजकमल पेपरबैक्स, पेज 329

15 रसमीमांसा, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृष्ठ 5

16 जायसी, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1993, पेज- 23

17 जायसी, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1993, पेज- 1

18 इगलटन, टेरी, द सिग्निफिकेंस ऑफ थ्योरी, बेसिल ब्लेकवैल, आक्स्फोर्ड, 1990, पेज-24

19 इगलटन, टेरी, द सिग्निफिकेंस ऑफ थ्योरी, बेसिल ब्लेकवैल, आक्सफोर्ड, 1990, पेज-25

20 नामवर सिंह, वाद विवाद संवाद, राजकमल प्रकाशन, 1989 पेज 31

21 नामवर सिंह, वाद विवाद संवाद, राजकमल प्रकाशन, 1989 पेज 31

22 कामायनी, एक पुनर्विचार, मुक्तिबोध रचनावली, भाग-4, राजकमल पेपरबैक्स, पेज 330

23 नामवर सिंह, वाद विवाद संवाद, राजकमल प्रकाशन, 1989 पेज 36

24 इगलटन, टेरी, द सिग्निफिकेंस ऑफ थ्योरी, बेसिल ब्लेकवैल, आक्स्फोर्ड, 1990, पेज-25

❑❑❑